कव्वे और काला पानी

कव्वे और काला पानी

निर्मल वर्मा



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

भोपाल के भले, भोले, अभूले दिनों की याद में

धूप का एक टुकड़ा

क्या मैं इस बेंच पर बैठ सकती हूँ ? नहीं, आप उठिए नहीं—मेरे लिए यह कोना ही काफी है। आप शायद हैरान होंगे कि मैं दूसरी बेंच पर क्यों नहीं जाती ? इतना बड़ा पार्क—चारों तरफ खाली बेंचें —मैं आपके पास ही क्यों धँसना चाहती हूँ ? आप बुरा न मानें, तो एक बात कहूँ—जिस बेंच पर आप बैठे हैं, वह मेरी है। जी हाँ, मैं यहाँ रोज बैठती हूँ। नहीं, आप गलत न समझें। इस बेंच पर मेरा कोई नाम नहीं लिखा है। भला म्युनिसिपैलिटी की बेंचों पर नाम कैसा ? लोग आते हैं, घड़ी-दो घड़ी बैठते हैं, और फिर चले जाते हैं। किसी को याद भी नहीं रहता कि फलां दिन फलां आदमी यहाँ बैठा था। उसके जाने के बाद बेंच पहले की तरह ही खाली हो जाती है। अब कुछ देर बाद कोई नया आगन्तुक आकर उस पर बैठता है, तो उसे पता भी नहीं चलता कि उससे पहले यहाँ कोई स्कूल की बच्ची या अकेली बुढ़िया या नशे में धुत्त जिप्सी बैठा होगा। नहीं जी, नाम वहीं लिखे जाते हैं, जहाँ आदमी टिककर रहे—तभी घरों के नाम होते हैं, या फिर कब्रों के—हालाँकि कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि कब्रों पर नाम न भी रहें, तो भी खास अन्तर नहीं पड़ता। कोई जीता-जागता आदमी जानबूझकर दूसरे की कब्र में घुसना पसन्द नहीं करेगा !

आप उधर देख रहे हैं—घोड़ा गाड़ी की तरफ ? नहीं, इसमें हैरानी की कोई बात नहीं। शादी-ब्याह के मौकों पर लोग अब भी घोड़ा-गाड़ी इस्तेमाल करते हैं···मैं तो हर रोज देखती हूँ। इसीलिए मैंने यह बेंच अपने लिए चुनी है। यहाँ बैठकर आँखें सीधी गिरजे पर जाती हैं—आपको अपनी

गर्दन टेढ़ी नहीं करनी पड़ती। बहुत पुराना गिरजा है। इस गिरजे में शादी करवाना बहुत बड़ा गौरव माना जाता है। लोग आठ-दस महीने पहले से अपना नाम दर्ज करवा लेते हैं। वैसे सगाई और शादी के बीच इतना लम्बा अन्तराल ठीक नहीं। कभी-कभी बीच में मन-मुटाव हो जाता है, और ऐन विवाह के मुहूर्त पर वर-वधू में से कोई भी दिखायी नहीं देता। उन दिनों यह जगह सुनसान पड़ी रहती है। न कोई भीड़, न कोई घोड़ा-गाड़ी। भिखारी भी खाली हाथ लौट जाते हैं। ऐसे ही एक दिन मैंने सामनेवाली बेंच पर एक लड़की को देखा था। अकेली बैठी थी और सूनी आँखों से गिरजे को देख रही थी।

पार्क में यही एक मुश्किल है। इतने खुले में सब अपने-अपने में बन्द बैठे रहते हैं। आप किसी के पास जाकर सान्त्वना के दो शब्द भी नहीं कह सकते। आप दूसरों को देखते हैं, दूसरे आपको। शायद इससे भी कोई तसल्ली मिलती होगी। यही कारण है, अकेले कमरे में जब तकलीफ दुश्वार हो जाती है, तो अक्सर लोग बाहर चले आते हैं। सड़कों पर। पब्लिक पार्क में। किसी पब में। वहाँ आपको कोई तसल्ली न भी दे, तो भी आपका दुख एक जगह से मुड़कर दूसरी तरफ करवट ले लेता है। इससे तकलीफ का बोझ कम नहीं होता, लेकिन आप उसे कुली के सामान की तरह एक कन्धे से उठाकर दूसरे कन्धे पर रख देते हैं। यह क्या कम राहत है? मैं तो ऐसा ही करती हूँ—सुबह से ही अपने कमरे से बाहर निकल आती हूँ। नहीं, नहीं—आप गलत न समझें—मुझे कोई तकलीफ नहीं। मैं धूप की खातिर यहाँ आती हूँ—आपने देखा होगा, सारे पार्क में सिर्फ यही एक बेंच है, जो पेड़ के नीचे नहीं है। इस बेंच पर एक पत्ता भी नहीं झरता—फिर इसका एक बड़ा फायदा यह भी है कि यहाँ से मैं सीधे गिरजे की तरफ देख सकती हूँ—लेकिन यह शायद मैं आपसे पहले ही कह चुकी हूँ।

आप सचमुच सौभाग्यशाली हैं। पहले दिन यहाँ आये—और सामने घोड़ा-गाड़ी! आप देखते रहिए—कुछ ही देर में गिरजे के सामने छोटी-सी भीड़ जमा हो जायेगी। उनमें से ज्यादातर लोग ऐसे होते हैं, जो न वर को जानते हैं, न वधू को। लेकिन एक झलक पाने के लिए घण्टों बाहर खड़े रहते हैं।

आपके बारे में मुझे मालूम नहीं, लेकिन कुछ चीजों को देखने की उत्सुकता जीवन-भर खत्म नहीं होती। अब देखिए, आप इस पेरेम्बुलेटर के आगे बैठे थे। पहली इच्छा यह हुई, झांककर भीतर देखूं, जैसे आपका बच्चा औरों से अलग होगा। अलग होता नहीं। इस उम्र में सारे बच्चे एक जैसे ही होते हैं—मुंह में चूसनी दबाये लेटे रहते हैं। फिर भी जब मैं किसी पेरेम्बुलेटर के सामने से गुजरती हूं, तो एक बार भीतर झांकने की जबरदस्त इच्छा होती है। मुझे यह सोचकर काफी हैरानी होती है कि जो चीजें हमेशा एक जैसी रहती हैं, उनसे ऊबने के बजाय आदमी सबसे ज्यादा उन्हीं को देखना चाहता है, जैसे प्रैम में लेटे बच्चे या नव-विवाहित जोड़े की घोड़ा-गाड़ी या मुर्दों की अर्थी। आपने देखा होगा, ऐसी चीजों के इर्द-गिर्द हमेशा भीड़ जमा हो जाती है। अपना बस हो या न हो, पाँव खुद-ब-खुद उनके पास खिंचे चले आते हैं। मुझे कभी-कभी यह सोचकर बड़ा अचरज होता है कि जो चीजें हमें अपनी जिन्दगी को पकड़ने में मदद देती हैं, वे चीजें हमारी पकड़ के बाहर हैं। हम न उनके बारे में कुछ सोच सकते हैं, न किसी दूसरे को बता सकते हैं। मैं आपसे पूछती हूं—क्या आप अपनी जन्म की घड़ी के बारे में कुछ याद कर सकते हैं, या अपनी मौत के बारे में किसी को कुछ बता सकते हैं, या अपने विवाह के अनुभव को हूबहू अपने भीतर दुहरा सकते हैं? आप हँस रहे हैं···नहीं मेरा मतलब कुछ और था। कौन ऐसा आदमी है, जो अपने विवाह के अनुभव को याद नहीं कर सकता? मैंने सुना है, कुछ ऐसे देश हैं, जहां जब तक लोग नशे में धुत नहीं हो जाते, तब तक विवाह करने का फैसला नहीं लेते ··और बाद में उन्हें उसके बारे में कुछ याद नहीं रहता। नहीं जी, मेरा मतलब ऐसे अनुभव से नहीं था। मेरा मतलब था, क्या आप उस क्षण को याद कर सकते हैं, जब आप एकाएक यह फैसला कर लेते हैं कि आप अलग न रहकर किसी दूसरे के साथ रहेंगे···जिन्दगी-भर! मेरा मतलब है, क्या आप सही-सही उस बिन्दु पर अँगुली रख सकते हैं, जब आप अपने भीतर के अकेलेपन को थोड़ा-सा सरकाकर किसी दूसरे को वहाँ आने देते हैं—···जी हां···उसी तरह जैसे कुछ देर पहले आपने थोड़ा-सा सरककर मुझे बेंच पर आने दिया था और अब मैं आपसे ऐसे बातें कर रही हूँ, मानो आपको बरसों से जानती हूँ।

लीजिए, अब दो-चार सिपाही भी गिरजे के सामने खड़े हो गये। अगर इसी तरह भीड़ जमा होती गयी, तो आने-जाने का रास्ता भी रुक जायेगा। आज तो ख़ैर धूप निकली है, लेकिन सर्दी के दिनों में भी लोग ठिठुरते हुए खड़े रहते हैं। मैं तो बरसों से यह देखती आ रही हूँ...कभी-कभी तो यह भ्रम होता है कि पन्द्रह साल पहले मेरे विवाह के मौके पर जो लोग जमा हुए थे, वही लोग आज भी हैं, वही घोड़ा-गाड़ी, वही इधर-उधर घूमते हुए सिपाही...जैसे इस दौरान कुछ भी नहीं बदला है। जी हाँ—मेरा विवाह भी इसी गिरजे में हुआ था। लेकिन यह मुद्दत पहले की बात है। तब सड़क इतनी चौड़ी नहीं थी कि घोड़ा-गाड़ी सीधे गिरजे के दरवाजे पर आकर ठहर सके। हमें उसे गली के पिछवाड़े रोक देना पड़ा था...और मैं अपने पिता के साथ पैदल चलकर यहाँ तक आयी थी। सड़क के दोनों तरफ लोग खड़े थे और मेरा दिल धुक-धुक कर रहा था कि कहीं सबके सामने मेरा पाँव न फिसल पड़े। पता नहीं, वे लोग अब कहाँ होंगे, जो उस रोज भीड़ में खड़े मुझे देख रहे थे। आप क्या सोचते हैं...अगर उनमें से कोई आज मुझे देखे, तो क्या पहचान सकेगा कि बेंच पर बैठी यह अकेली औरत वही लड़की है, जो सफेद पोशाक में पन्द्रह साल पहले गिरजे की तरफ जा रही थी? सच बताइए, क्या पहचान सकेगा? आदमियों की तो बात मैं नहीं जानती, लेकिन मुझे लगता है कि वह घोड़ा मुझे जरूर पहचान लेगा, जो उस दिन हमें खींचकर लाया था...जी हाँ, घोड़ों को देखकर मैं हमेशा हैरान रह जाती हूँ। कभी आपने उनकी आँखों में झाँककर देखा है? लगता है, जैसे वे किसी बहुत ही आत्मीय चीज से अलग हो गये हैं, लेकिन अभी तक अपने अलगाव के आदी नहीं हो सके हैं। इसीलिए वे आदमियों की दुनिया में सबसे अधिक उदास रहते हैं। किसी चीज का आदी न हो पाना, इससे बड़ा और कोई दुर्भाग्य नहीं। वे लोग जो आखीर तक आदी नहीं हो पाते या तो घोड़ों की तरह उदासीन हो जाते हैं, या मेरी तरह धूप के एक टुकड़े की खोज में एक बेंच से दूसरी बेंच का चक्कर लगाते रहते हैं।

क्या कहा आपने? नहीं, आपने शायद मुझे गलत समझ लिया। मेरे कोई बच्चा नहीं—यह मेरा सौभाग्य है। बच्चा होता, तो शायद मैं कभी अलग

नहीं हो पाती। आपने देखा होगा, आदमी और औरत में प्यार न भी रहे, तो भी बच्चे की खातिर एक-दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। मेरे साथ कभी ऐसी रुकावट नहीं रही। इस लिहाज से मैं बहुत सुखी हूँ—अगर सुख का मतलब है कि हम अपने अकेलेपन को खुद चुन सकें। लेकिन चुनना एक बात है, आदी हो सकना बिलकुल दूसरी बात। जब शाम को धूप मिटने लगती है, तो मैं अपने कमरे से चली जाती हूँ। लेकिन जाने से पहले मैं कुछ देर उस पब में जरूर बैठती हूँ, जहाँ वह मेरी प्रतीक्षा करता था। जानते हैं, उस पब का नाम? बोनापार्ट—जी हाँ, कहते हैं, जब नेपोलियन पहली बार इस शहर में आया, तो उस पब में बैठा था—लेकिन उन दिनों मुझे इसका कुछ पता नहीं था। जब पहली बार उसने मुझसे कहा कि हम बोनापार्ट के सामने मिलेंगे, तो मैं सारी शाम शहर के दूसरे सिरे पर खड़ी रही, जहाँ नेपोलियन घोड़े पर बैठा है। आपने कभी अपनी पहली डेट इस तरह गुजारी है कि आप सारी शाम पब के सामने खड़े रहें और आपकी मंगेतर पब्लिक-स्टेचू के नीचे। बाद में जो उसका शौक था, वह मेरी आदत बन गयी। हम दोनों हर शाम कभी उस जगह जाते, जहाँ मुझे मिलने से पहले वह बैठता था, या उस शहर के उन इलाकों में घूमने निकल जाते, जहाँ मैंने बचपन गुजारा था। यह आपको कुछ अजीब नहीं लगता कि जब हम किसी व्यक्ति को बहुत चाहने लगते हैं, तो न केवल वर्तमान में उसके साथ रहना चाहते हैं, बल्कि उसके अतीत को भी निगलना चाहते हैं, जब वह हमारे साथ नहीं था। हम इतने लालची और ईर्ष्यालु हो जाते हैं कि हमें यह सोचना भी असहनीय लगता है कि कभी ऐसा समय रहा होगा, जब वह हमारे बगैर जीता था, प्यार करता था, खाता-जागता था। फिर अगर कुछ साल उसी एक आदमी के साथ गुजार दें, तो यह कहना भी असम्भव हो जाता है कि कौन-सी आदत आपकी अपनी है, कौन-सी आपने दूसरे से चुरायी है'''जी, हाँ, ताश के पत्तों की तरह वे इस तरह आपमें घुल-मिल जाती हैं कि आप किसी एक पत्ते को उठाकर नहीं कह सकते कि यह पत्ता मेरा है, और वह पत्ता उसका'''

देखिए, कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि मरने से पहले हममें से हर एक को यह

छूट मिलनी चाहिए कि हम अपनी चीर-फाड़ खुद कर सकें। अपने अतीत की तहों को प्याज के छिलकों की तरह एक-एक करके उतारते जायें···आपको हैरानी होगी कि सब लोग अपना-अपना हिस्सा लेने आ पहुंचेंगे, मां-बाप, दोस्त, पति···सारे छिलके दूसरों के, आखीर की सूखी डण्ठल आपके हाथ में रह जायेगी, जो किसी काम की नहीं, जिसे मृत्यु के बाद जला दिया जाता है, या मिट्टी के नीचे दबा दिया जाता है। देखिए, अक्सर कहा जाता है कि हर आदमी अकेला मरता है। मैं यह नहीं मानती। वह उन सब लोगों के साथ मरता है, जो उसके भीतर थे, जिनसे वह लड़ता था या प्रेम करता था। वह अपने भीतर पूरी एक दुनिया लेकर जाता है। इसीलिए हमें दूसरों के मरने पर जो दुख होता है, वह थोड़ा-बहुत स्वार्थी किस्म का दुख है, क्योंकि हमें लगता है कि इसके साथ हमारा एक हिस्सा भी हमेशा के लिए खत्म हो गया है।

अरे देखिए—वह जाग गया। जरा पेरेम्बुलेटर हिलाइए, धीरे-धीरे हिलाते जाइए। अपने आप चुप हो जायेगा···मुंह में चूसनी इस तरह दबाकर लेटा है, जैसे छोटा-मोटा सिगार हो! देखिए—कैसे ऊपर बादलों की तरफ टुकुर-टुकुर ताक रहा है। मैं जब छोटी थी, तब लकड़ी लेकर बादलों की तरफ इस तरह घुमाती थी, जैसे वे मेरे इशारों पर ही आकाश में चल रहे हों···आप क्या सोचते हैं? बच्चे इस उम्र में जो कुछ देखते हैं या सुनते हैं, वह क्या बाद में उन्हें याद रहता है? रहता जरूर होगा।···कोई आवाज, कोई झलक, या कोई आहट, जिसे बड़े होकर हम उम्र के जाले में खो देते हैं। लेकिन किसी अनजाने मौके पर, जरा-सा इशारा पाते ही हमें लगता है कि इस आवाज को कहीं हमने सुना है, यह घटना या ऐसी ही कोई घटना पहले कभी हुई है···और फिर उसके साथ-साथ बहुत-सी चीजें अपने आप खुलने लगती हैं, जो हमारे भीतर अरसे से जमा थीं, लेकिन रोजमर्रा की दौड़-धूप में जिनकी तरफ हमारा ध्यान जाता नहीं, लेकिन वे वहां हैं, घात लगाये कोने में खड़ी रहती हैं—मौके की तलाश में—और फिर किसी घड़ी सड़क पर चलते हुए या ट्राम की प्रतीक्षा करते हुए या रात को सोने और जागने के बीच वे अचानक आपको पकड़ लेती हैं और तब आप कितना ही हाथ-पांव क्यों न मारें, कितना ही क्यों न छटपटायें, वे आपको छोड़ती

नही। मेरे साथ एक रात ऐसे ही हुआ था…

हम दोनो सो रहे थे और तब मझे एक अजीब-सा खटका सुनायी दिया—बिल्कुल वैसे ही, जैसे बचपन में मैं अपने अकेले कमरे मे हड़बड़ाकर जाग उठती थी और सहसा यह भ्रम होता था कि दूसरे कमरे मे माँ और बाबू नहीं हैं—और मुझे लगता था कि अब मैं उन्हें कभी नही देख सकूंगी और तब मैं चीखने लगती थी। लेकिन उस रात मैं चीखी-चिल्लायी नहीं। मैं बिस्तर से उठकर देहरी तक आयी, दरवाजा खोलकर बाहर झांका, बाहर कोई न था। वापस लौटकर उसकी तरफ देखा। वह दीवार की तरफ मुँह मोड़कर सो रहा था, जैसे वह हर रात सोता था। उसे कुछ भी सुनायी नही दिया था। तब मुझे पता चला कि वह खटका कही बाहर नही, मेरे भीतर हुआ था। नही, मेरे भीतर भी नहीं, अँधेरे मे एक चिमगादड़ की तरह वह मुझे छूता हुआ निकल गया था—न बाहर, न भीतर, फिर भी चारों तरफ फड़फड़ाता हुआ। मैं पलँग पर आकर बैठ गयी, जहाँ वह लेटा था और धीरे-धीरे उसकी देह को छूने लगी। उसकी देह के उन सब कोनों को छूने लगी, जो एक जमाने में मुझे तसल्ली देते थे। मुझे यह अजीब-सा लगा कि मैं उसे छू रही हूँ और मेरे हाथ खाली-के-खाली वापस लौट आते हैं। बरसो पहले की गूँज, जो उसके अंगों मे निकलकर मेरी आत्मा मे बस जाती थी, अब कहीं न थी। मैं उसी तरह उसकी देह को टोह रही थी, जैसे कुछ लोग पुराने खंडहरो पर अपने नाम खोजते हैं, जो मुद्दत पहले उन्होंने दीवारो पर लिखे थे। लेकिन मेरा नाम वहाँ कहीं न था। कुछ और निशान थे, जिन्हें मैंने पहले कभी नहीं देखा था। जिनका मुझसे दूर का भी वास्ता न था। मैं रात-भर उसके सिरहाने बैठी रही और मेरे हाथ मुर्दा होकर उसकी देह पर पड़े रहे…मुझे यह भयानक-सा लगा कि हम दोनो के बीच जो खालीपन आ गया था, वह मैं किसी से नही कह सकती : जी हाँ—अपने वकील से भी नही, जिन्हें मैं अरसे से जानती थी।

वे समझे, मैं सठिया गयी हूँ। कैसा खटका! क्या मेरा पति किसी दूसरी औरत के साथ जाता था? क्या वह मेरे प्रति क्रूर था? जी हाँ… उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी और मैं थी कि एक ईडियट की तरह उनका

ताकती रही। और तब मुझे पहली बार पता चला कि अलग होने के ए कोर्ट, कचहरी जाना जरूरी नहीं है। अक्सर लोग कहते हैं कि अपना दूसरों के साथ बांटकर हम हल्के हो जाते हैं। मैं कभी हल्की नहीं होती। हीं जी, लोग दुख नहीं बांटते, सिर्फ फैसला करते हैं—कौन दोषी है और ौन निर्दोष···मुश्किल यह है, जो एक व्यक्ति आपकी दुखती रग को सही-ही पहचान सकता है, उसी से हम अलग हो जाते हैं···इसीलिए मैं अपने मुहल्ले को छोड़कर शहर के इस इलाके में आ गयी, यहां मुझे कोई नहं जानता। यहां मुझे देखकर कोई यह नहीं कहता कि देखो, यह औरत अप पति के साथ आठ वर्ष रही और फिर अलग हो गयी। पहले जब कोई इ तरह की बात कहता था, तो मैं बीच सड़क पर खड़ी हो जाती थी। इच्छा होती थी, लोगों को पकड़कर शुरू से आखीर तक सबकुछ बताऊं···कैसे हम पहली शाम अलग-अलग एक-दूसरे की प्रतीक्षा करते रहे थे—वह पब के सामने, मैं मूर्ति के नीचे। कैसे उसने पहली बार मुझे पेड़ के तने से सटा-कर चूमा था, कैसे मैंने पहली बार डरते-डरते उसके बालों को छुआ था। जी हां, मुझे यह लगता था कि जब तक मैं उन्हें यह सच नहीं बता दूंगी, तब तक उस रात के बारे में कुछ नहीं कह सकूंगी, जब पहली बार मेरे भीतर खटका हुआ था और बरसों बाद यह इच्छा हुई थी कि मैं दूसरे कमरे में भाग जाऊं, जहां मेरे मां-बाप सोते थे···लेकिन वह कमरा खाली था। जी, मैंने कहीं पढ़ा था कि बड़े होने का मतलब है कि अगर आप आधी-रात को जाग जायें और कितना ही क्यों न चीखें-चिल्लायें, दूसरे कमरे से कोई नहीं आयेगा। वह हमेशा खाली रहेगा। देखिए, उस रात के बाद मैं कितनी बड़ी हो गयी हूं !

लेकिन एक बात मुझे अभी तक समझ में नहीं आती। भूचाल य बमबारी की खबरें अखबारों में छपती हैं। दूसरे दिन सबको पता चल जा है कि जहां बच्चों का स्कूल था, वहां खंडहर हैं, जहां खंडहर थे, व उड़ती धूल। लेकिन जब लोगों के साथ ऐसा होता है, तो किसी को क खबर नहीं होती—उस रात के बाद दूसरे दिन मैं सारे शहर में अके घूमती रही और किसी ने मेरी तरफ देखा भी नहीं···जब मैं पहली इस पार्क में आयी थी, इसी बेंच पर बैठी थी, जिस पर आप बैठे हैं।

जी हाँ, उस दिन मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि मैं उसी गिरजे के सामने बैठी हूँ, जहाँ मेरा विवाह हुआ था···तब सड़क इतनी चौड़ी नहीं थी कि हमारी घोड़ा-गाड़ी सीधे गिरजे के सामने आ सके। हम दोनों पैदल चलकर यहाँ आये थे···

आप सुन रहे हैं, ओर्गन पर संगीत? देखिए, उन्होंने दरवाजे खोल दिये हैं। संगीत की आवाज यहाँ तक आती है। इसे सुनते ही मुझे पता चल जाता है कि उन्होंने एक-दूसरे को चूमा है, अँगूठियों की अदला-बदली की है। बस, अब थोड़ी-सी देर और है—वे अब बाहर आनेवाले हैं। लोगों में अब इतना चैन कहाँ कि शान्ति से खड़े रहें, अगर आप जाकर देखना चाहें, तो निश्चिन्त होकर चले जायें। मैं तो यहाँ बैठी ही हूँ। आपके बच्चे को देखती रहूँगी। क्या कहा आपने? जी हाँ, शाम होने तक यहीं रहती हूँ। फिर यहाँ सर्दी हो जाती है। दिन-भर मैं यह देखती रहती हूँ कि धूप का टुकड़ा किस बेंच पर है—उसी बेंच पर जाकर बैठ जाती हूँ। पार्क का कोई ऐसा कोना नहीं, जहाँ मैं घड़ी, आध घड़ी नहीं बैठती। लेकिन यह बेंच मुझे सबसे अच्छी लगती है। एक तो इस पर पत्ते नहीं झरते और दूसरे' अरे, आप जा रहे हैं?···

दूसरी दुनिया

बहुत पहले मैं एक लड़की को जानता था। वह दिन-भर पार्क में खेलती थी। उस पार्क में बहुत से पेड़ थे, जिनमें मैं बहुत कम को पहचानता था। मैं सारा दिन लायब्रेरी में रहता था और जब शाम को लौटता था, तो वह उन पेड़ों के बीच बैठी दिखायी देती थी। बहुत दिनों तक हम एक-दूसरे से नहीं बोले। मैं लन्दन के उस इलाके में सिर्फ कुछ दिनों के लिए ठहरा था। उन दिनों मैं एक जगह से दूसरी जगह बदलता रहता था, सस्ती जगह की तलाश में।

वे काफी गरीबी के दिन थे।

वह लड़की भी काफी गरीब रही होगी, यह मैं आज सोचता हूँ। वह एक आधा-उधड़ा स्वेटर पहने रहती, सिर पर कत्थई रंग का टोप, जिसके दोनों तरफ उसके बाल निकले रहते। कान हमेशा लाल रहते और नाक का ऊपरी सिरा भी—क्योंकि वे अक्तूबर के अन्तिम दिन थे—सर्दियाँ शुरू होने से पहले के दिन और ये शुरू के दिन कभी-कभी असली सर्दियों से भी ज्यादा क्रूर होते थे।

सच कहूँ तो ठण्ड से बचने के लिए ही मैं लायब्रेरी आता था। उन दिनों मेरा कमरा बर्फ हो जाता था। रात को सोने से पहले मैं अपने सब स्वेटर और जुरावें पहन लेता था, रजाई पर अपने कोट और ओवरकोट जमा कर लेता था—लेकिन ठण्ड फिर भी नहीं जाती थी। यह नहीं कि कमरे में हीटर नहीं था, किन्तु उसे जलाने के लिए उसके भीतर एक शिलिंग डालना पड़ता था। पहली रात जब मैं उस कमरे में सोया था, तो रात-भर

उस हीटर को पैसे खिलाता रहा—हर आध घण्टे बाद उसकी जठराग्नि शान्त करनी पड़ती थी। दूसरे दिन, मेरे पास नाश्ते के पैसे भी नहीं बचे थे। उसके बाद मैंने हीटर को अलग छोड़ दिया। मैं रात-भर ठण्ड से काँपता रहता, लेकिन यह तसल्ली रहती कि वह भी भूखा पड़ा है। वह मेज पर ठण्डा पड़ा रहता—मैं बिस्तर पर—और इस तरह हम दोनों के बीच शीत-युद्ध जारी रहता।

सुबह होते ही मैं जल्दी-से-जल्दी लायब्रेरी चला आता। पता नहीं, कितने लोग मेरी तरह वहाँ आते थे—लायब्रेरी खुलने से पहले ही दरवाजे पर लाइन बनाकर खड़े हो जाते थे। उनमें से ज्यादातर बूढ़े लोग होते थे, जिन्हें पेंशन बहुत कम मिलती थी, किन्तु सर्दी सबसे ज्यादा लगती थी। मेजों पर एक-दो किताबें खोलकर वे बैठ जाते। कुछ ही देर बाद मैं देखता, मेरे दायें-बायें सब लोग सो रहे हैं। कोई उन्हें टोकता नहीं था। एक-आध घण्टे बाद लायब्रेरी का कोई कर्मचारी वहाँ चक्कर लगाने आ जाता, खुली किताबों को बन्द कर देता और उन लोगों को धीरे-से हिला देता, जिनके खुर्राटे दूसरों की नींद या पढ़ाई में खलल डालने लगे हों।

ऐसी ही एक ऊँघती दोपहर में मैंने उस लड़की को देखा था— लायब्रेरी की लम्बी खिड़की से। उसने अपना बस्ता एक बेंच पर रख दिया था और खुद पेड़ों के पीछे छिप गयी थी। वह कोई धूप का दिन न था, इसलिए मुझे कुछ हैरानी हुई थी कि इतनी ठण्ड में वह लड़की बाहर खेल रही है। वह बिलकुल अकेली थी। बाकी बेंचें खाली पड़ी थीं। और उस दिन पहली बार मुझे यह जानने की तीव्र उत्सुकता हुई थी कि वे कौन-से खेल हैं, जिन्हें कुछ बच्चे अकेले में खेलते हैं।

दोपहर होते ही वह पार्क में आती, बेंच पर अपना बैग रख देती और फिर पेड़ों के पीछे भाग जाती। मैं कभी-कभी किताब से सिर उठाकर उसकी ओर देख लेता। पाँच बजने पर सरकारी अस्पताल का गजर सुनायी देता। घण्टे बजते ही, वह लड़की जहाँ भी होती, दौड़ते हुए अपनी बेंच पर आ बैठती। वह बस्ते को गोद में रखकर चुपचाप बैठी रहती, जब तक दूसरी तरफ से एक महिला न दिखायी दे जाती। मैं कभी उस महिला का चेहरा ठीक से न देख सका। वह हमेशा नर्स की सफ़ेद पोशाक में आती थी। और

इससे पहले कि बेंच तक पहुँच पातीं—वह लड़की अपना धीरज खोकर भागने लगती और उन्हें बीच में ही रोक लेती। वे दोनों गेट की तरफ मुड़ जाते और मैं उन्हें उस समय तक देखता रहता, जब तक वे आंखों से ओझल न हो जाते।

मैं यह सब देखता था, हिचकॉक के हीरो की तरह, खिड़की से बाहर, जहां यह पैंण्टोमिम रोज दुहराया जाता था। यह सिलसिला शायद सदियों तक चलता रहता, यदि एक दिन अचानक मौसम ने करवट न ली होती।

एक रात सोते हुए मुझे सहसा अपनी रजाई और उस पर रखे हुए कोट बोझ जान पड़े। मेरी देह पसीने से लथपथ थी, जैसे बहुत दिनों बाद बुखार से उठ रहा हूँ। खिड़की खोलकर बाहर झाँका, तो न धुन्ध, न कोहरा; लन्दन का आकाश नीली मखमली डिबिया-सा खुला था, जिसमें किसी ने ढेर-से तारे भर दिये थे। मुझे लगा, जैसे यह गर्मियों की रात है और मैं विदेश में न होकर अपने घर की छत पर लेटा हूँ।

अगले दिन खुलकर धूप निकली थी, मैं अधिक देर तक लायब्रेरी में नहीं बैठ सका। दोपहर होते ही मैं बाहर निकल पड़ा और घूमता हुआ उस रेस्तरां में चला आया, जहां मैं रोज खाना खाने जाया करता था। वह एक सस्ता यहूदी रेस्तरां था। वहां सिर्फ डेढ़ शिलिंग में कोशर गोश्त, दो रोटियां और बियर का एक छोटा गिलास मिल जाता था। रेस्तरां की यहूदी मालकिन, जो युद्ध से पहले लियूनिया से आयी थीं, एक ऊँचे स्टूल पर बैठी रहतीं। काउण्टर पर एक कैश-बॉक्स रखा रहता और उसके नीचे एक सफेद सियामी बिल्ली गाहकों को घूरती रहती। मुझे शायद वह थोड़ा-बहुत पहचानने लगी थी, क्योंकि जितनी देर मैं खाता रहता, उतनी देर वह अपनी हरी आँखों से मेरी तरफ टुकुर-टुकुर ताकती रहती। गरीबी और ठण्ड और अकेलेपन के दिनों में बिल्ली का सहारा भी बहुत होता है, यह मैं उन दिनों सोचा करता था। मैं यह भी सोचता था कि किसी दिन मैं भी ऐसा ही हिन्दुस्तानी रेस्तरां खोलूंगा और एक-साथ तीन बिल्लियां पालूंगा।

रेस्तरां से बाहर आया, तो दोबारा लायब्रेरी जाने की इच्छा मर गयी। लम्बी मुद्दत बाद उस दिन घर से चिट्ठियां और अखबार आये थे। मैं उन्हें

पार्क की खुली धूप में पढ़ना चाहता था। मुझे हल्का-सा आश्चर्य हुआ, जब मेरी नजर पार्क के फूलों पर गयी। वे बहुत छोटे फूल थे, जो घास के बीच अपना सिर उठाकर खड़े थे। इन्हीं फूलों के बारे में शायद जीसस ने कहा था, लिलीज ऑफ द फील्ड, ऐसे फूल, जो आनेवाले दिनों के बारे में नहीं सोचते।

वे गुजरी हुई गर्मियों की याद दिलाते थे।

मैं घास के बीच उन फूलों पर चलने लगा।

बहुत अच्छा लगा। आनेवाले दिनों की दुश्चिन्ताएँ झरने लगीं। मैं हल्का-सा हो गया। मैंने अपने जूते उतार दिये और घास पर नंगे पाँव चलने लगा। मैं बेंच के पास पहुँचा ही था कि मुझे अपने पीछे एक चीख सुनायी दी। कोई तेजी से भागता हुआ मेरी तरफ आ रहा था। पीछे मुड़कर देखा, तो वही लड़की दिखायी दी। वह पेड़ों से निकलकर बाहर आयी और मेरा रास्ता रोककर खड़ी हो गयी।

"यू आर कॉट," उसने हँसते हुए कहा, "अब आप जा नहीं सकते।"

मैं समझा नहीं। जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रहा।

"आप पकड़े गये···" उसने दोबारा कहा, "आप मेरी जमीन पर खड़े हैं।"

मैंने चारों तरफ देखा, घास पर फूल थे, किनारे पर खाली बेंचें थीं, बीच में तीन एवरग्रीन पेड़ और एक मोटे तनेवाला ओक खड़ा था। उसकी जमीन कहीं दिखायी न दी।

"मुझे मालूम नहीं था," मैंने कहा और मुड़कर वापस जाने लगा।

"नहीं, नहीं···आप जा नहीं सकते," बच्ची एकदम मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उसकी आँखें चमक रही थीं, "वे आपको जाने नहीं देंगे।"

"कौन नहीं जाने देगा?" मैंने पूछा।

उसने पेड़ों की तरफ इशारा किया, जो अब सचमुच सिपाही-से दिखायी दे रहे थे, लम्बे हट्टे-कट्टे पहरेदार। मैं बिना जाने उनके अदृश्य फन्दे में चला आया था।

कुछ देर तक हम चुपचाप आमने-सामने खड़े रहे। उसकी आँखें बराबर मुझ पर टिकी थीं—उत्तेजित और सतर्क। जब उसने देखा, मेरा भागने का

कोई इरादा नहीं है, तो वह कुछ ढीली पड़ी।

"आप छूटना चाहते हैं ?" उसने कहा।

"कैसे ?" मैंने उसकी ओर देखा।

"आपको इन्हें खाना देना होगा। ये बहुत दिन से भूखे हैं।" उसने पेड़ों की ओर संकेत किया। वे हवा में सिर हिला रहे थे।

"खाना मेरे पास नहीं है।" मैंने कहा।

"आप चाहें, तो ला सकते हैं।" उसने आशा बँधायी, "ये सिर्फ फूल-पत्ते खाते हैं।"

मेरे लिए यह मुश्किल नहीं था। वे अक्तूबर के दिन थे और पार्क में फूलों के अलावा ढेरों पत्ते बिखरे रहा करते थे। मैं नीचे झुका ही था कि उसने लपककर मेरा हाथ रोक लिया।

"नहीं, नहीं—यहाँ से नहीं। यह मेरी जमीन है। आपको वहाँ जाना होगा।" उसने पार्क के फेंस की ओर देखा। वहाँ मुरझाये फूलों और पत्तों का ढेर लगा था। मैं वहाँ जाने लगा कि उसकी आवाज सुनायी दी।

"ठहरिए—मैं आपके साथ आती हूँ, लेकिन अगर आप बचकर भागेंगे तो···यहीं मर जायेंगे।" वह रुकी, मेरी तरफ देखा, "आप मरना चाहते हैं ?"

मैंने जल्दी से सिर हिलाया। वह इतना गर्म और उजला दिन था कि मरने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी।

हम फेंस तक गये। मैंने रूमाल निकाला और फूल-पत्तियों को बटोरने लगा। मुक्ति पाने के लिए आदमी क्या कुछ नहीं करता।

वापस लौटते हुए वह चुप रही। मैं कनखियों से उसकी ओर देख लेता था। वह काफी बीमार-सी बच्ची जान पड़ती थी। उन बच्चों की तरह गम्भीर, जो हमेशा अकेले में अपने साथ खेलते हैं। जब वह चुप रहती थी, तो होंठ बिचक जाते थे—नीचे का होंठ थोड़ा-सा बाहर निकल आता, जिसके ऊपर दबी हुई नाक बेसहारा-सी दिखायी देती थी। बाल बहुत छोटे थे—और बहुत काले—गोल छल्लों में धुनी हुई रुई की तरह बँटे हुए, जिन्हें छूने को अनायास हाथ आगे बढ़ जाता था। लेकिन वह अपनी दूरी में हर तरह की छुअन से परे जान पड़ती थी।

"अब आप इन्हें खाना दे सकते हैं।" उसने कहा। वह पेड़ों के पास आकर रुक गयी थी।

"क्या ये मुझे छोड़ देंगे?" मैं कोई गारण्टी, कोई आश्वासन पाना चाहता था।

इस बार वह मुस्करायी—और मैंने पहली बार उसके दाँत देखे—एकदम सफ़ेद और चमकीले—जैसे अक्सर नीग्रो लड़कियों के होते हैं।

मैंने वे पत्तियाँ रूमाल से बाहर निकालीं, चार हिस्सों में बाँटीं और बराबर-बराबर से पेड़ों के नीचे डाल दीं।

मैं स्वतन्त्र हो गया था—कुछ खाली-सा भी।

मैंने जेब से चिट्ठियाँ और अखबार निकाले और उस बेंच पर बैठ गया, जहाँ उसका बैग रखा था। वह काले चमड़े का बैग था, भीतर किताबें ठुँसी थीं, ऊपर की जेब से आधा कुतरा हुआ सेब बाहर झाँक रहा था।

वह ओझल हो गयी। मैंने चारों तरफ़ ध्यान से देखा, तो उसकी फ्राक का एक कोना झाड़ियों से बाहर दिखायी दिया। वह एक खरगोश की तरह दुबककर बैठी थी—मेरे ही जैसे, किसी भूले-भटके यात्री पर झपटने के लिए। किन्तु बहुत देर तक पार्क से कोई आदमी नहीं गुजरा। हवा चलती तो पेड़ों के नीचे जमा की हुई पत्तियाँ घूमने लगतीं—एक भँवर की तरह—और वह अपने शिकार को भूलकर उनके पीछे भागने लगती।

कुछ देर बाद वह बेंच के पास आयी, एक क्षण मुझे देखा, फिर बस्ते की जेब से सेब निकाला। मैं अखबार पढ़ता रहा और उसके दाँतों के बीच सेब की कुतरन सुनता रहा।

अचानक उसकी नजर मेरी चिट्ठियों पर पड़ी, जो बेंच पर रखी थीं। उसके हिलते हुए जबड़े रुक गये।

"यह आपकी हैं?"

"हाँ।" मैंने उसकी ओर देखा।

"और यह?"

उसने लिफ़ाफ़े पर लगे टिकट की ओर उँगली उठायी। टिकट पर हाथी की तस्वीर थी, जिसकी सूँड ऊपर हवा में उठी थी। वह अपने दाँतों के बीच हँसता-सा दिखायी दे रहा था।

कोई इरादा नहीं है, तो वह कुछ ढीली पड़ी।

"आप छूटना चाहते हैं ?" उसने कहा।

"कैसे ?" मैंने उसकी ओर देखा।

"आपको इन्हें खाना देना होगा। ये बहुत दिन से भूखे हैं।" उसने पेड़ों की ओर संकेत किया। वे हवा में सिर हिला रहे थे।

"खाना मेरे पास नहीं है।" मैंने कहा।

"आप चाहें, तो ला सकते हैं।" उसने आशा बँधायी, "ये सिर्फ फूल-पत्ते खाते हैं।"

मेरे लिए यह मुश्किल नहीं था। वे अक्तूबर के दिन थे और पार्क में फूलों के अलावा ढेरों पत्ते बिखरे रहा करते थे। मैं नीचे झुका ही था कि उसने लपककर मेरा हाथ रोक लिया।

"नहीं, नहीं—यहां से नहीं। यह मेरी जमीन है। आपको वहाँ जाना होगा।" उसने पार्क के फेंस की ओर देखा। वहाँ मुरझाये फूलों और पत्तों का ढेर लगा था। मैं वहाँ जाने लगा कि उसकी आवाज सुनायी दी।

"ठहरिए—मैं आपके साथ आती हूँ, लेकिन अगर आप बचकर भागेंगे तो···यहीं मर जायेंगे।" वह रुकी, मेरी तरफ देखा, "आप मरना चाहते हैं ?"

मैंने जल्दी से सिर हिलाया। वह इतना गर्म और उजला दिन था कि मरने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी।

हम फेंस तक गये। मैंने रूमाल निकाला और फूल-पत्तियों को बटोरने लगा। मुक्ति पाने के लिए आदमी क्या कुछ नहीं करता।

वापस लौटते हुए वह चुप रही। मैं कनखियों से उसकी ओर देख लेता था। वह काफी बीमार-सी बच्ची जान पड़ती थी। उन बच्चों की तरह गम्भीर, जो हमेशा अकेले में अपने साथ खेलते हैं। जब वह चुप रहती थी, तो होंठ बिचक जाते थे—नीचे का होंठ थोड़ा-सा बाहर निकल आता, जिसके ऊपर दबी हुई नाक बेसहारा-सी दिखायी देती थी। बाल बहुत छोटे थे—और बहुत काले—गोल छल्लों में धुनी हुई रुई की तरह बँटे हुए, जिन्हें छूने को अनायास हाथ आगे बढ़ जाता था। लेकिन वह अपनी दूरी में हर तरह की छुअन से परे जान पड़ती थी।

"अब आप इन्हें खाना दे सकते हैं।" उसने कहा। वह पेड़ों के पास आकर रुक गयी थी।

"क्या वे मुझे छोड़ देंगे?" मैं कोई गारण्टी, कोई आश्वासन पाना चाहता था।

इस बार वह मुस्करायी—और मैंने पहली बार उसके दाँत देखे—एकदम सफ़ेद और चमकीले—जैसे अक्सर नीग्रो लड़कियों के होते हैं।

मैंने वे पत्तियाँ रूमाल से बाहर निकालीं, चार हिस्सों में बाँटी और बराबर-बराबर में पेड़ों के नीचे डाल दीं।

मैं स्वतन्त्र हो गया था—कुछ खाली-सा भी।

मैंने जेब से चिट्ठियाँ और अखबार निकाले और उस बेंच पर बैठ गया, जहाँ उसका बैग रखा था। वह काले चमड़े का बैग था, भीतर किताबें ठुँसी थीं, ऊपर की जेब से आधा कुतरा हुआ सेब बाहर झाँक रहा था।

वह ओझल हो गयी। मैंने चारों तरफ़ ध्यान से देखा, तो उसकी फ्राक का एक कोना झाड़ियों में बाहर दिखायी दिया। वह एक खरगोश की तरह दुबककर बैठी थी—मेरे ही जैसे, किसी भूले-भटके यात्री पर झपटने के लिए। किन्तु बहुत देर तक पार्क में कोई आदमी नहीं गुजरा। हवा चलती तो पेड़ों के नीचे जमा की हुई पत्तियाँ घूमने लगतीं—एक भँवर की तरह—और वह अपने शिकार को भूलकर उनके पीछे भागने लगती।

कुछ देर बाद वह बेंच के पास आयी, एक क्षण मुझे देखा, फिर बस्ते की जेब से सेब निकाला। मैं अखबार पढ़ता रहा और उसके दाँतों के बीच सेब की कुतरन सुनता रहा।

अचानक उसकी नजर मेरी चिट्ठियों पर पड़ी, जो बेंच पर रखी थीं। उसके हिलते हुए जबड़े रुक गये।

"यह आपकी हैं?"

"हाँ।" मैंने उसकी ओर देखा।

"और यह?"

उसने लिफ़ाफ़े पर लगे टिकट की ओर उँगली उठायी। टिकट पर हाथी की तस्वीर थी, जिसकी सूँड ऊपर हवा में उठी थी। वह अपने दाँतों के बीच हँसता-सा दिखायी दे रहा था।

"तुम कभी जू गयी हो?" मैंने पूछा।

"एक बार पापा के साथ गयी थी। उन्होंने मुझे एक पेनी दी थी और थी ने अपनी सूंड से उस पेनी को मेरे हाथ से उठाया था।"

"तुम डरीं नहीं?"

"नहीं, क्यों?" उसने सेव कुतरते हुए मेरी ओर देखा।

"पापा तुम्हारे साथ यहाँ नहीं आते?"

"एक बार आये थे। तीन बार पकड़े गये।"

वह धीमे-से हँसी—जैसे मैं वहाँ न हूँ, जैसे कोई अकेले में हँसता है, जहाँ एक स्मृति पचास तहें खोलती है।

अस्पताल की घड़ी का गजर सुनायी दिया, तो हम दोनों चौंक गये। लडकी ने बेंच से बस्ता उठाया और उन पेड़ों के पास-पास गयी, जो चुप खड़े थे। बच्ची हर पेड़ के पास जाती थी, छूती थी, कुछ कहती थी, जिसे सिर्फ पेड़ सुन पाते थे। आखीर में वह मेरे पास आयी और मुझसे हाथ मिलाया, जैसे मैं भी उन पेड़ों में से एक हूँ।

उसकी निगाहें पीछे मुड़ गयीं। मैंने देखा, कौन है? वह महिला दिखायी दीं। वह नर्सोंवाली सफेद पोशाक हरी घास पर चमक रही थी। बच्ची उन्हें देखते ही भागने लगी। मैंने ध्यान से देखा—यह वही महिला थीं, जिन्हें मैं लायब्रेरी की खिड़की से देखता था। छोटा कद, कन्धे पर थैला और बच्ची-जैसे ही काले-घुंघराले बाल। वे मुझसे काफी दूर थे, लेकिन उनकी आवाज सुनायी दे जाती थी—अलग-अलग शब्द नहीं, सिर्फ दो स्वरों की एक आहट। वे घास पर बैठ गये थे। बच्ची मुझे भूल गयी थी।

मैंने जूते पहने। अखबार और चिट्ठियाँ जेब में रख दीं। अभी समय काफी है, मैंने सोचा। एक-दो घण्टे लायब्रेरी में बिता सकता हूँ। पार्क के जादू से अलग, अपने अकेले कोने में।

मैं बीच पार्क में चला आया। पेड़ों की फुनगियों पर आग सुलगने लग थी। समूचा पार्क सोने में गल रहा था। बीच में पत्तों का दरिया था, ह में हिलता हुआ।

कौन-कौन है? कोई मुझे बुला रहा था और मैं चलता गया, स नहीं। कभी-कभी आदमी खुद अपने को बुलाने लगता है, बाहर से भीतर

और भीतर कुछ भी नहीं होता। लेकिन यह बुलावा और दिनों की तरह नहीं था। वह रुका नहीं, इसलिए अन्त में मुझे ही रुकना पड़ा। इस बार कोई धोखा नहीं हुआ। सचमुच कोई चीख रहा था, "स्टॉप, स्टॉप…!" मैंने पीछे मुड़कर देखा, लड़की खड़ी होकर दोनों हाथ हवा में हिला रही थी।

सच ! मैं फिर पकड़ा गया था—दोबारा से। बेवकूफों की तरह मैं उसकी जमीन पर चला आया था, चार पेड़ों से घिरा हुआ। इस बार माँ और बेटी दोनों हँस रहे थे।

वे झूठी गर्मियों के दिन थे। ये दिन ज्यादा देर नहीं टिकेंगे, इसे सब जानते थे। लायब्रेरी उजाड़ रहने लगी। मेरे पड़ोसी, बूढ़े पेंशनयाफ्ता लोग, अब बाहर धूप में बैठने लगे। आकाश इतना नीला दिखायी देता कि लन्दन की धुन्ध भी उसे मैला न कर पाती। उसके नीचे पार्क एक हरे टापू-सा लेटा रहता।

प्रेता (यह उसका नाम था) हमेशा वहाँ दिखायी देती थी। कभी दिखायी न देती, तो भी बेंच पर उसका बस्ता देखकर पता चल जाता कि वह यहीं कहीं है, किसी कोने में दुबकी है। मैं बचता हुआ आता, पेड़ों से, झाड़ियों से, घास के फूलों से। हर रोज वह कहीं-न-कहीं, एक अदृश्य भयानक फन्दा छोड़ जाती और जब पूरी सतर्कता के बावजूद मेरा पाँव उसमें फँस जाता, तो वह बदहवास चीखती हुई मेरे सामने आ खड़ी होती। मैं पकड़ लिया जाता। छोड़ दिया जाता। फिर पकड़ लिया जाता…।

यह खेल नहीं था। वह एक पूरी दुनिया थी। उस दुनिया में मेरा कोई वास्ता नहीं था—हालांकि मैं कभी-कभी उसमें बुला लिया जाता था। ड्रामे में एक ऐक्स्ट्रा की तरह। मुझे हमेशा तैयार रहना पड़ता था, क्योंकि वह मुझे किसी भी समय बुला सकती थी। एक दोपहर हम दोनों बेंच पर बैठे थे, अचानक वह उठ खड़ी हुई।

"हलो मिसेज़ टामस"।" उसने मुस्कराते हुए कहा, "आज आप बहुत दिन बाद दिखायी दी —यह मेरे इण्डियन दोस्त हैं, इनसे मिलिए।"

मैं अवाक् उसे देखता रहा। वहाँ कोई न था।

"आप बैठे हैं ? इनसे हाथ मिलाइए।" उसने मुझे कुछ झिड़कते हुए

कहा।

मैं खड़ा हो गया, खाली हवा से हाथ मिलाया। ग्रेता खिसककर मेरे पास बैठ गयी, ताकि कोने में मिसेज टामस बैठ सकें।

"आप बाजार जा रही थीं ?" उसने खाली जगह को देखते हुए कहा, "मैं आपका थैला देखकर समझ गयी। नहीं, माफ कीजिए, मैं आपके साथ नहीं आ सकती। मुझे बहुत काम करना है। इन्हें देखिए (उसने पेड़ों की तरफ इशारा किया), ये सुबह से भूखे हैं, मैंने अभी तक इनके लिए खाना भी नहीं बनाया—आप चाय पियेंगी या कॉफ़ी ? ओह—आप घर से पीकर आयी हैं। क्या कहा—मैं आपके घर क्यों नहीं आती ? आजकल वक्त कहाँ मिलता है। सुबह अस्पताल जाना पड़ता है, दोपहर को बच्चों के साथ—आप तो जानती हैं। मैं इतवार को आऊँगी। आप जा रही हैं—"

उसने खड़े होकर दोबारा हाथ मिलाया। मिसेज टामस शायद जल्दी में थीं। विदा लेते समय उन्होंने मुझे देखा नहीं। बदले में मैं बेंच पर ही बैठा रहा।

कुछ देर तक हम चुपचाप बैठे रहे। फिर सहसा वह चौंक पड़ी।

"आप कुछ सुन रहे हैं ?" उसने मेरी कुहनी को झिंझोड़ा।

"कुछ भी नहीं।" मैंने कहा।

"फोन की घण्टी—कितनी देर से बज रही है। जरा देखिए, कौन है ?"

मैं उठकर बेंच के पीछे गया, नीचे घास से एक टूटी टहनी उठायी और जोर से कहा, "हलो !"

"कौन है ?" उसने कुछ अधीरता से पूछा।

"मिसेज टामस।" मैंने कहा।

"ओह—फिर मिसेज टामस।" उसने एक थकी-सी जम्हाई ली, धीमे कदमों से पास आयी, मेरे हाथ से टहनी खींचकर कहा, "हलो, मिसेज टामस—आप बाजार से लौट आयीं ? क्या-क्या लायीं ? मीट-बॉल्स, फिश-फिगर्स, आलू के चिप्स ?" उसकी आँखें आश्चर्य से फैलती जा रही थीं। वह शायद चुन-चुनकर उन सब चीजों का नाम ले रही थी, जो उसे सबसे अधिक अच्छी लगती थीं।

फिर वह चुप हो गयी—जैसे मिसेज टामस ने कोई अप्रत्याशित प्रस्ताव उसके सामने रखा हो। "ठीक है मिसेज टामस, मैं अभी आती हूँ—नहीं, मुझे देर नहीं लगेगी। मैं अभी बस-स्टेशन की तरफ जा रही हूँ—गुड बाई, मिसेज टामस!"

उसने चमकती आँखों से मेरी ओर देखा।

"मिसेज टामस ने मुझे डिनर पर बुलाया है—आप क्या करेंगे?"

"मैं सोऊँगा।"

"पहले इन्हें कुछ खिला देना···नहीं तो ये रोयेंगे।" उसने पेड़ों की ओर इशारा किया, जो ठहरी हवा में निस्पन्द खड़े थे।

वह तैयार होने लगी। अपने बिखरे बालों को सँवारा, पाउडर लगाने का बहाना किया—हथेली का शीशा बनाकर उसमें झाँका—धूप और पेड़ों की छाया के बीच वह सचमुच सुन्दर जान पड़ रही थी।

जाते समय उसने मेरी तरफ हाथ हिलाया। मैं उसे देखता रहा, जब तक वह पेड़ों और झाड़ियों के घने झुरमुट में गायब नहीं हो गयी।

ऐसा हर रोज होने लगा। वह मिसेज टामस से मिलने चली जाती और मैं बेंच पर लेटा रहता। मुझे अकेला नहीं लगता था। पार्क की अजीब, अदृश्य आवाजें मुझे हरदम घेरे रहतीं। मैं एक दुनिया से निकलकर दूसरी दुनिया में चला आता। वह पार्क के सुदूर कोनों में भटकती फिरती। मैं लायब्रेरी की किताबों का सिरहाना बनाकर बेंच पर लेट जाता। लन्दन के बादलों को देखता—वे घूमते रहते और जब कभी कोई सफेद टुकड़ा सूरज पर अटक जाता, तब पार्क में अँधेरा-सा घिर आता।

ऐसे ही एक दिन जब मैं बेंच पर लेटा था, मुझे अपने नजदीक एक अजीब-सी खड़खड़ाहट सुनायी दी। मुझे लगा, मैं सपने में मिसेज टामस को देख रहा हूँ। वे मेरे पास—बिलकुल पास—आकर खड़ी हो गयी हैं, मुझे बुला रही हैं।

मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा।

सामने बच्ची की माँ खड़ी थी। उन्होंने ग्रेता का हाथ पकड़ रखा था और कुछ असमंजस में वे मुझे निहार रही थीं।

"माफ कीजिए···" उन्होंने सकुचाते हुए कहा, "आप सो तो नहीं रहे

थे ?"

मैं कपड़े झाड़ता हुआ उठ खड़ा हुआ।

"आज आप जल्दी आ गयीं ?" मैंने कहा। उनकी सफेद पोशाक, काली बेल्ट और बालों पर बँधे स्कार्फ को देखकर मेरी आँखें चुंधिया-सी गयीं। लगता था, वे अस्पताल से सीधी यहाँ चली आ रही थीं।

"हाँ, मैं जल्दी आ गयी," वे मुस्कराने लगीं, "शनिवार को काम ज्यादा नहीं रहता—मैं दोपहर को ही आ जाती हूँ।"

वे वेस्ट इण्डीज के चौड़े उच्चारण के साथ बोल रही थीं जिसमें हर शब्द का अन्तिम हिस्सा गुब्बारे-सा उड़ता दिखायी देता था।

"मैं आपसे कहने आयी थी आज आप हमारे साथ चाय पीने चलियेगा ?···हम लोग पास में ही रहते हैं।"

उनके स्वर में कोई संकोच या दिखावा नहीं था, जैसे वे मुझे मुद्दत से जानती हों।

मैं तैयार हो गया। मैं अरसे से किसी के घर नहीं गया था। अपने बेड-सिटर से लायब्रेरी और पार्क तक परिक्रमा लगाता था। मैं लगभग भूल गया था कि उसके परे एक और दुनिया है—जहाँ ग्रेता रहती होगी, खाती होगी, सोती होगी।

वह आगे-आगे चल रही थीं। कभी-कभी पीछे मुड़कर देख लेती थीं कि कहीं हम बहुत दूर तो नहीं छूट गये। उसे शायद कुछ अनोखा-सा लग रहा था कि मैं उसके घर आ रहा हूँ। अजीब मुझे भी लग रहा था—उसके घर आना नहीं, बल्कि उसकी माँ के साथ चलना। वे उम्र में काफी छोटी जान पड़ती थीं, शायद अपने कद के कारण। मेरे साथ चलते हुए वे कुछ इतनी छोटी दिखायी दे रही थीं कि भ्रम होता था कि मैं किसी दूसरी ग्रेता के साथ चल रहा हूँ।

रास्ते-भर वे चुप रहीं। सिर्फ जब उनका घर सामने आया, तो वे ठिठक गयीं।

"आप भी तो कहीं पास रहते हैं ?" उन्होंने पूछा।

"ब्राडड स्ट्रीट में", मैंने कहा, "ट्यूब स्टेशन के बिलकुल सामने।"

"आप शायद हाल में ही आये हैं ?" उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "इस

इलाके में बहुत कम इण्डियन रहते हैं।"

वे नीचे उतरने लगीं। उनका घर बेसमेण्ट में था और हमें सीढ़ियाँ उतरकर नीचे जाना पड़ा था। बच्ची दरवाजा खोलकर खड़ी थी। कमरे में दिन के समय भी अंधेरा था। बत्ती जलायी, तो तीन-चार कुर्सियाँ दिखायी दीं। बीच में एक मेज थी। जरूरत से ज्यादा लम्बी और नगी—जैसे उस पर पिंग-पांग खेली जाती है। दीवार से सटा सोफा था, जिसके सिरहाने एक रजाई लिपटी रखी थी। लगता था, वह कमरा बहुत से कामों के काम आता था, जिसमें खाना, सोना—और मौका पड़ने पर—अतिथि-सत्कार भी शामिल था।

"आप बैठिए, मैं अभी चाय बनाकर लाती हूँ।"

वे पर्दा उठाकर भीतर चली गयीं। मैं और प्रेता कमरे में अकेले बैठे रहे। हम दोनों पार्क के मटमैले उजाले में एक-दूसरे को पहचानने लगे थे। पर कमरे के भीतर न कोई मौसम था, न कोई माया। वह अचानक एक बहुत कम उम्रवाली बच्ची बन गयी थी, जिसका जादू और आतंक दोनों झर गये थे।

"तुम यहाँ सोती हो?" मैंने सोफे की ओर देखा।

"नहीं, यहाँ नहीं," उसने सिर हिलाया, "मेरा कमरा भीतर है—आप देखेंगे?"

किचेन से आगे एक कोठरी थी, जो शायद बहुत पहले गोदाम रहा होगा। वहाँ एक नीली चिक लटक रही थी। उसने चिक उठायी और दबे कदमों से भीतर चली आयी।

"धीरे से आइए—वह सो रहा है।"

"कौन?"

"हिश!" उसने अपना हाथ मुँह पर रख दिया।

मैंने सोचा, कोई भीतर है। पर भीतर बिलकुल सूना था। कमरे की हरी दीवारें थीं, जिन पर जानवरों की तस्वीरें चिपकी थीं। कोने में उसकी खाट थी, जो खटोला-सी दिखायी देती थी। तकिये पर चिथलियों में लिपटा एक भालू लेटा था, गुदड़ी के लाल-जैसा—

"वह सो रहा है।" उसने फुसफुसाते हुए कहा।

"और तुम ?" मैंने कहा, "तुप यहां नहीं सोतीं ?"

"यहां सोती हूं। जब पापा यहां थे, तो वे दूसरे पलंग पर सोते थे। मां ने अब उस पलंग को बाहर रखवा दिया है।"

"कहां रहते हैं वे ?" इस बार मेरा स्वर भी धीमा हो गया, भालू के डर से नहीं, अपने उस डर से, जो कई दिनों से मेरे भीतर पल रहा था।

"अपने घर रहते हैं—और कहां ?"

उसने तनिक विस्मय से मुझे देखा। उसे लगा, मैं पूरी तरह आश्वस्त नहीं हुआ हूं। वह अपनी मेज के पास गयी, जहां उसकी स्कूल की किताबें रखी थीं। दराज खोला और उसके भीतर से चिट्ठियों का पुलिन्दा बाहर निकाला। पुलिन्दे पर रेशम का लाल फीता बंधा था, मानो वह क्रिसमस का कोई उपहार हो। वह उन्हें उठाकर मेरे पास ले आयी—सबसे ऊपर-वाले लिफाफे पर लगा टिकट दिखाया।

"वे यहां रहते हैं।" उसने कहा।

मुझे याद आया, वह मेरी नकल कर रही है—बहुत पहले पार्क में मैंने उसे अपने देश की चिट्ठी दिखायी थी।

बैठक से उसकी मां हमें बुला रही थीं। आवाज सुनते ही वह कमरे से बाहर चली गयी।

मैं एक क्षण वहीं ठिठका रहा। खटोले पर भालू सो रहा था। दीवारों पर जानवरों की आंखें मुझे घूर रही थीं। बिस्तर के पास ही एक छोटी-सी बेसिनी थी, जिस पर उसका टूथ-ब्रश, साबुन और कंघा रखे थे।

बिलकुल मेरे बेड-सिट की तरह—मैंने सोचा। किन्तु मुझसे बहुत अलग। मैं अपना कमरा छोड़कर कहीं भी जा सकता था, उसका कमरा अपनी चीजों में शाश्वत-सा जान पड़ता था।

मेज पर चिट्ठियों का पुलिन्दा पड़ा था, रेशमी डोर में बंधा हुआ, जिसे जल्दी में वह अकेला छोड़ गयी थी।

"कमरा देख लिया आपने ?" उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

"यहां जो भी आता है, सबसे पहले उसे अपना कमरा दिखाती है।" वे कपड़े बदलकर आयी थीं। लाल छींट की स्कर्ट और खुला-खुला भूरे रंग का कार्डीगन। कमरे में सस्ती सेण्ट की गन्ध फैली थीं।

"आप चाय नहीं—दावत दे रही हैं।" मैंने मेज पर रखे सामान को देखकर कहा। टोस्ट, जैम, मक्खन, चीज़—पता नहीं, इतनी सारी चीजें मैंने पहले कब देखी थीं।

"अस्पताल की कैण्टीन से ले आती हूँ—वहाँ सस्ते में मिल जाता है।"

वे परेशान लगती थीं। हँसती थीं, लेकिन परेशानी अपनी जगह कायम रहती थी। पता नहीं, बच्ची कहाँ थी? वे उसे चीखते हुए बुला रही थीं और चाय ठण्डी हो रही थी।

वे सिर पकड़कर बैठी रहीं। फिर याद आया, मैं भी हूँ। "आप शुरू कीजिए—वह बाग में बैठी होगी।"

"आपका अपना बाग है?" मैंने पूछा।

"बहुत छोटा-सा, किचेन के पीछे। जब हम यहाँ आये थे, उजाड़ पड़ा था। मेरे पति ने उसे साफ किया। अब तो थोड़ी-बहुत सब्ज़ी भी निकल आती है।"

"आपके पति यहाँ नहीं रहते?"

"उन्हें यहाँ काम नहीं मिला—दिन-भर पार्क में घूमते रहते थे। वही आदत प्रेता को पड़ी है···"

उनके स्वर में हल्की-सी थकान थी। खीज से खाली—लेकिन ऐसी थकान, जो पीली धूल-सी हर चीज पर बैठ जाती है।

"पार्क में तो मैं भी घूमता हूँ।" मैंने उन्हें हल्का करना चाहा। वे हो भी गयीं। हँसने लगीं।

"आपकी बात अलग है।" उन्होंने डूबे स्वर में कहा, "आप अकेले हैं। लेकिन लन्दन में अगर परिवार साथ हो, तो बिना नौकरी के नहीं रहा जा सकता।"

वे मेज की चीजें साफ करने लगीं। बर्तनों को जमा करके मैं किचन में ले गया। सिंक के आगे खिड़की थी, जहाँ से उनका बाग दिखायी देता था। बीच में एक वीपिंग-विलो खड़ा था, जिसकी शाखाएँ एक उलटी छतरी की सलाखों की तरह झूल रही थीं।

पीछे मुड़ा तो वे दिखायी दीं। दरवाजे पर तौलिया लेकर खड़ी थीं।

"क्या देख रहे हैं?"

"आपके बाग को···यह तो कोई बहुत छोटा नहीं है।"

"है नहीं—पर इस पेड़ ने सारी जगह घेर रखी है। मैं इसे कटवाना चाहती थी, लेकिन वह अपनी जिद पर अड़ गयी—जिस दिन पेड़ कटना था, वह रात-भर रोती रही।"

वे चुप हो गयीं—जैसे उस रात को याद करना अपने में एक रोना हो।

"क्या कहती थी?"

"कहती क्या थी—अपनी जिद पर अड़ी थी। बहुत पहले कभी इसके पापा ने कहा होगा कि पेड़ के नीचे समर-हाउस बनायेंगे—अब आप बताइए, यहाँ खुद रहने को जगह है नहीं, बाग में गुड़ियों का समर-हाउस बनेगा?"

"समर-हाउस?"

"हाँ, समर-हाउस—जहाँ ग्रेता अपने भालू के साथ रहेगी।"

वे हँसने लगीं—एक उदास-सी हँसी जो एक खाली जगह से उठकर दूसरी खाली जगह पर खत्म हो जाती है—और बीच की जगह को भी खाली छोड़ जाती है।

मेरे जाने का समय हो गया था—लेकिन ग्रेता कहीं दिखायी नहीं दी। हम सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चले आये। लन्दन की मैली धूप पड़ोस की चिमनियों पर रेंग रही थी।

जब विदा लेने के लिए मैंने हाथ आगे बढ़ाया, तो उन्होंने कुछ सकुचाते हुए कहा, "आप कल खाली हैं?"

"कहिए—मैं तकरीबन हर रोज खाली रहता हूँ।"

"कल इतवार है···" उन्होंने कहा, "ग्रेता की छुट्टी है, पर मेरी अस्पताल में ड्यूटी है। क्या मैं उसे आपके पास छोड़ सकती हूँ?"

"कितने बजे आना होगा?"

"नहीं, आप आने की तकलीफ न करें। अस्पताल जाते हुए मैं इसे लायब्रेरी के सामने छोड़ दूंगी···शाम को लौटते हुए ले लूंगी।"

मैंने हामी भरी और सड़क पर चला आया। कुछ दूर चलकर जेब से पैसे निकाले और उन्हें गिनने लगा। आज खाने के पैसे बच जायेंगे, यह सोच-

कर खुशी हुई। मैंने बची हुई रेजगारी को मुट्ठी में दबाया और घर की तरफ चलने लगा।

मैं लायब्रेरी के दरवाजे पर खड़ा था।

उन्हें देर हो गयी थी—शायद सर्दी के कारण। धूप कहीं न थी। लन्दन की इमारतों पर अवसन्न-सा आलोक फैला था—पीली और जर्द, जिसमे वे और भी दरिद्र और दुखी दिखायी देती थीं।

मुझे उनकी सफेद पोशाक दिखायी दी। दोनों पार्क से गुजरते हुए आ रहे थे। आगे-आगे वे और पीछे भागती हुई ग्रेता। जब उन्होंने मुझे देख लिया तो हवा में हाथ हिलाया, बच्ची को जल्दी से चूमा और तेज कदमों से अस्पताल की तरफ मुड़ गयीं।

किन्तु बच्ची में कोई जल्दी न थी। वह धीमे कदमों से मेरे पास आयी। सर्दी मे नाक लाल-सुर्ख हो गयी थी। उसने पूरी बाँहोंवाला ब्राउन स्वेटर पहन रखा था—सिर पर वही पुरानी कैप थी, जिसे मैं पार्क मे देखा करता था।

वह निढाल-सी खड़ी थी।

"चलोगी ?" मैंने उसका हाथ पकड़ा।

उसने चुपचाप सिर हिला दिया। मुझे हल्की-सी निराशा हुई। मैंने सोचा था, वह पूछेगी, कहाँ—और तब मैं उसे आश्चर्य मे डाल दूँगा। पर उसने पूछा कुछ भी नहीं और हम सड़क पार करने लगे।

जब हम पार्क को छोड़कर आगे बढ़े तो एक बार उसने प्रश्नभरी निगाहों से मेरी ओर देखा—जैसे वह अपने किसी सुरक्षित घेरे से बाहर जा रही हो। पर मैं चुप रहा—और उसने कुछ पूछा नहीं। तब मुझे पहली बार लगा कि जब बच्चे माँ-बाप के साथ नहीं होते तो सब प्रश्नो को पुड़िया बनाकर किसी अँधेरे गड्ढे मे फेंक देते हैं।

ट्यूब में बैठकर वह कुछ निश्चिन्त नजर आयी। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया और खिड़की के बाहर देखने लगी।

"क्या अभी से रात हो गयी ?" उसने पूछा।

"रात कैसी ?"

"देखो—बाहर कितना अँधेरा है।"

"हम जमीन के नीचे हैं।" मैंने कहा।

वह कुछ सोचने लगी, फिर धीरे से कहा, "नीचे रात है, ऊपर दिन।"

हम दोनों हँसने लगे। मैंने पहले कभी ऐसा नहीं सोचा था।

धीरे-धीरे रोशनी नजर आने लगी। ऊपर आकाश का एक टुकड़ा दिखायी दिया—और फिर अथाह सफेदी में डूबा दिन सुरंग के बाहर निकल आया।

ट्यूब स्टेशन की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वह रुक गयी। मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"रुक क्यों गयीं!"

"मुझे बाथरूम जाना है।"

मुझे दहशत हुई। टॉयलेट नीचे था और वह इस तरह अपने को रोके बहुत दूर तक नहीं जा सकती थी। मैंने उसे गोद में उठा लिया और उलटे पाँव सीढ़ियों पर भागने लगा। गलियारे के दूसरे सिरे पर टॉयलेट दिखायी दिया—पुरुषों के लिए—मैं जल्दी से उसे भीतर ले गया। दरवाजा बन्द करके बाहर आया, तो लगा जैसे वह नहीं, मैं मुक्त हो रहा हूँ।

वह बाहर आयी तो परेशान-सी नजर आयी। "अब क्या बात है?"

"चेन बहुत ऊँची है।" उसने कहा।

"तुम ठहरो, मैं खींच आता हूँ।"

उसने मेरा कोट पकड़ लिया। वह खुद खींचना चाहती थी। उसके साथ मैं भीतर गया, उसे दुबारा गोद में उठाया और तब तक उठाता गया, जब तब उसका हाथ चेन तक नहीं पहुँच गया। हम दोनों विस्मय से टॉय-लेट में पानी को बहता देखते रहे, जैसे यह चमत्कार जिन्दगी में पहली बार देख रहे हों।

हम सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। ऊपर आये तो उसने कसकर मेरा हाथ भींच लिया। ट्रिफालगर स्क्वैयर आगे था, चारोंतरफ भीड़, उजाला, शोर। मैं उसे आश्चर्य में डालना चाहता था। किन्तु वह डर गयी थी। वह इतना डर गयी थी कि मेरी इच्छा हुई कि मैं उसे दोबारा नीचे ले जाऊँ—ट्यूब-स्टेशन में, जहाँ जमीन का अपना सुरक्षित अँधेरा था।

मैं बेंच पर बैठ गया। फव्वारों को देखने लगा, जिनके छींटे उड़ते हुए …नों तक आ जाते थे। बादल इतने नीचे झुक आये थे कि नेल्सन का सिर …र्फ एक काले धब्बे-सा दिखायी देता था।

दिन बीत रहा था।

कुछ ही देर में मैंने देखा, वह सामने खड़ी है।

"मैं एक कप और लूंगी।" उसने कहा।

"अब नहीं…" मैंने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, "काफी देर हो गयी है। अब चाय पियेंगे—और तुम आइसक्रीम लोगी।"

उसने सिर हिलाया।

"मैं एक कप और लूंगी।"

उस स्वर में जिद नहीं थी। कुछ क्षण पहले जो पहचान आयी थी, वह मानो मुझसे नहीं, उससे आग्रह कर रही हो।

मैंने उसके हाथ से खाली कप लिया और दुकान की तरफ बढ़ गया। पीछे मुड़कर देखा। वह मुझे देख रही थी। मैं दुकान के पीछे मुड़ गया। वहाँ भीड़ थी और उसकी आँखें मुझ तक नहीं पहुँच सकती थीं। कोने में सिमटकर मैंने जेब से पैसे निकाले। चाय और आइसक्रीम के पैसे एक तरफ किये, ट्यूब के किराये के पैसे दूसरी तरफ—बाकी सिर्फ दो पेंस बचे थे। मैंने चाय के कुछ पेंस उसमें मिलाये और दुकान के आगे लगी क्यू में शामिल हो गया।

इस बार जब मैंने उसे कप दिया, तो उसने मुझे देखा भी नहीं। व… तुरन्त भागती हुई उस जगह चली गयी, जहाँ सबसे ज्यादा कबूतर इकट्… थे। अब उसका हौसला बढ़ गया था। और कबूतर भी उसे पहचानने ल… थे। वे आसपास उड़ते हुए कभी उसके हाथों, उसके कन्धों, उसके सिर… बैठ जाते थे। वह हँसती जा रही थी, पीला चेहरा एक ज्वरग्रस्त खिचा… विकृत-सा हो गया था—और हाथ—वे हाथ, जो मुझे हमेशा इतने निरीह… पड़ते थे— अब एक अजीब बेचैनी में कभी खुलते थे, कभी बन्द होते थे… वे किसी भी क्षण कबूतरों की फड़फड़ाती मांसल धड़कनों को दबोच… उसे पता भी न चला, कब दानों की कटोरी खाली हो गयी—वह कु… तक हवा में हथेली खोले बैठी रही। सहसा उसे आभास हुआ, कबू…

छोड़कर दूसरे बच्चों के आसपास मंडराने लगे हैं। वह खड़ी हो गयी और बिना कहीं देखे चुपचाप मेरे पास चली आयी।

वह एकटक मुझे देख रही थी। मुझे शक हुआ, वह मुझ पर शक कर रही है। मैं बेंच से उठ खड़ा हुआ।

"अब चलेंगे।" मैंने कहा।

"मैं एक कप और लूंगी।"

"अब और नहीं—तुम दो ले चुकी हो।" मैंने गुस्से में कहा, "तुम्हें मालूम है, हमारे पास कितने पैसे बचे हैं?"

"सिर्फ एक और—उसके बाद हम लौट जायेंगे।"

लोग हमें देखने लगे थे। मैं बहस कर रहा था—दानों की एक कटोरी के लिए। मैंने उसे उठाकर बेंच पर बिठा दिया, "बेटा, तुम बहुत जिद्दी हो। अब तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा।"

उसने ठण्डी आँखों से मुझे देखा।

"आप बुरे आदमी हैं। मैं आपके साथ कभी नहीं खेलूंगी।" मुझे लगा जैसे उसने मेरी तुलना किसी अदृश्य व्यक्ति से की हो। मैं खाली-सा बैठा रहा। कभी-कभी ऐसा होता है कि अपने लिए कोई उम्मीद नहीं रहती। सिर्फ घोर हैरानी होने लगती है, अपने होने पर, अपने होने पर ही हैरानी होने लगती है। फिर मुझे वह आवाज सुनायी दी, जो आज भी मुझे अकेले में सुनायी दे जाती है···और मुंह मोड़ लेता हूं।

वह रो रही थी। हाथ में दानों का खाली कप था, और उसकी कैप खिसककर माथे पर चली आयी थी। वह चुप्पी का रोना था। अलग-अलग सांसों के बीच छिपा हुआ। मुझसे वह नहीं सहा गया। मैंने उसके हाथ से कप लिया और लाइन में जाकर खड़ा हो गया। इस बार पैसों को गिनना भी याद नहीं आया। मैं सिर्फ उसका रोना सुन रहा था, हालांकि वह मुझसे बहुत दूर थी, और बीच में कबूतरों की फड़फड़ाहट और बच्चों की चीखों के कारण कुछ भी सुनायी नहीं देता था। पर इन सबके परे मेरे भीतर का सन्नाटा था, जिसके बीच उसकी रुंधी सांसें थीं—और ये मैं अन्तहीन दूरी से सुन सकता था।

किन्तु इस बार पहले जैसा नहीं हुआ। बहुत देर तक कोई कबूतर

उसके पास नहीं आया। उसकी अपनी घबराहट के कारण या घिरते अंधेरे के कारण —वे पास तक आते थे, लेकिन उसकी खुली हथेली की अवहेलना करके दूसरे बच्चों के पास चले जाते थे। हताश होकर उसने दानों की कटोरी जमीन पर रख दी और स्वयं मेरे पास बेंच पर आकर बैठ गयी।

उसके जाते ही कबूतरों का जमघट कटोरी के इर्द-गिर्द जमा होने लगा। कुछ देर बाद हमने देखा, दानों की कटोरी औंधी पड़ी है—और उसमें एक भी दाना नही है।

"अब चलोगी ?" मैंने कहा।

वह तुरन्त बेंच से उठ खड़ी हुई, जैसे वह इतनी देर से सिर्फ इसकी ही प्रतीक्षा कर रही हो। उसकी आंखें चमक रही थीं—एक भीगी हुई चमक—जो आंसुओं के बाद चली आती है।

उन दिनों ट्रिफालगर स्क्वैयर के सामने लायंस का रेस्तरां होता था। गन्दा और सस्ता दोनों ही। सड़क पार करके हम वहीं चले आये।

इस बीच मैंने जेब में हाथ डालकर पैसों को गिन लिया था—मैंने उसके लिए दो टोस्ट मंगवाये, अपने लिए चाय। आइसक्रीम को भुला देना ही बेहतर था।

वह पहली बार किसी रेस्तरां में आयी थी। गहरी उत्सुकता से चारों तरफ देख रही थी। मुझे लगा, कुछ देर पहले का सन्ताप घुलने लगा है। हम करीब-करीब दोबारा एक दूसरे के करीब आ गये थे। लेकिन पहले जैसे नहीं—कबूतरों की छाया अब भी हम दोनों के बीच फड़फड़ा रही थी।

"मैं क्या बहुत बुरा आदमी हूं !" मैंने पूछा।

उसने आंखें उठायीं, एक क्षण मुझे देखती रही, फिर बहुत अधीर स्वर में कहा, "मैंने आपको नहीं कहा था।"

"मुझे नहीं कहा था ?" मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, "फिर किसको कहा था ?"

"मि. टामस को—वे बुरे आदमी हैं। एक दिन जब मैं उनके घर गयी, वे डांट रहे थे और मिसेज टामस बेचारी रो रही थीं।"

"ओह !" मैंने कहा।

"आप समझे—मैंने आपको कहा था ?"

वह हँसने लगी, जैसे मैंने सचमुच बड़ी मूर्खता की भूल की है—और उसकी हँसी देखकर, न जाने क्यों, मेरा दिल बैठने लगा।

"हम यहाँ फिर कभी आयेंगे?" उसने कहा।

"गर्मियों में," मैंने कहा, "गर्मियों में टेम्स पर चलेंगे, वह यहाँ से बहुत पास है।"

'क्या वहाँ कबूतर होंगे?" उसने पूछा।

मुझे बुरा लगा, जैसे कोई लड़की अपने प्रेमी की चर्चा बार-बार छेड़ दे। किन्तु मैं उसे दोबारा निराश नहीं करना चाहता था। गर्मियाँ काफी दूर थीं, बीच में पतझड़ और बर्फ के दिन आयेंगे—तब तक मेरा झूठ भी पिघल जायेगा, मैंने सोचा।

हम बाहर आये, तो पीला-सा अँधेरा घिर आया था। हालाँकि दोपहर अभी बाकी थी। उसने खोयी हुई आँखों से स्क्वेयर की तरफ देखा, जहाँ कबूतर अब भी उड़ रहे थे। मेरी जेब में अब उतने ही पैसे थे, जिनसे ट्यूब का किराया दिया जा सके। इस बार उसने कोई आग्रह नहीं किया। बच्चे एक सीमा के बाद, बड़ों की गरीबी न सही, मजबूरी सूँघ लेते हैं।

मैंने सोचा था, ट्रेन में बैठेंगे, तो मैं उससे समर-हाउस के बारे में पूछूँगा—उस बिल्ली के बारे में भी जो अकेला उसके बाग में खड़ा था। मैं उसे दोबारा उसकी अपनी दुनिया में लाना चाहता था—जहाँ पहली बार हम दोनों एक-दूसरे से मिले थे। पर ऐसा हुआ नहीं। सीट पर बैठते ही उसकी आँखें मुँदने लगीं। ट्रिफाल्गार स्क्वेयर से इसलिंग्टन तक का काफी लम्बा फासला था। कुछ देर बाद उसने मेरे कन्धों पर अपना सिर टिका लिया और सोने लगी।

इस बीच मैंने एक-आध बार उसके चेहरे को देखा था—मुझे हैरानी हुई कि सोते हुए वह हूबहू वैसी ही लग रही है, जैसे पहली बार मैंने उसे देखा था पार्क में पेड़ों के बीच—तल्लीन और मायूस। कबूतरों के लिए जो भटकाव आया था, वह अब कहीं न था। आँसू कब के सूख चले थे। नींद में वह उतनी ही मुकम्मिल जान पड़ती थी, जितनी झाड़ियों के बीच और तब मुझे अजीब-सा विचार आया। पार्क में उसने कई बार मुझे पकड़ा था, किन्तु उसके सोते हुए तल्लीन चेहरे को देखकर मुझे लगा कि वह हमेशा

कड़ी हुई लडकी है, जबकि मेरे जैसे लोग सिर्फ कभी-कभी पकड़ में हैं और उसे इसका कोई पता नहीं है और यह एक तरह का वरदान क्योंकि दूसरों को हमेशा छूटने का, मुक्त होने का भ्रम रहता है, जबकि च्ची को इस तरह की कोई आशा नहीं थी। तव पहली वार मैंने उसे छूने ा साहस किया। मैं धीरे-धीरे उसके गालों को छूने लगा, जो आंसुओं के ाद गर्म हो आये थे, कुछ वैसे ही, जैसे वारिश के वाद घास की पत्तियां हो जाती हैं।

वह जगी नहीं। ट्यूब स्टेशन आने तक आराम से सोती रही।

उस रात वारिश शुरू हुई, सो हफ्ते-भर चलती रही। झूठी गर्मियों के दिन खत्म हो गये। सारे शहर पर पीली धुन्ध की परतें जमी रहतीं। सड़क पर चलते हुए कुछ भी दिखायी न देता—न पेड़, न लैम्प पोस्ट, न दूसरे आदमी।

मुझे वे दिन याद हैं, क्योंकि उन्हीं दिनों मुझे काम मिला था। लन्दन में वह मेरी पहली नौकरी थी। काम ज्यादा था, लेकिन मुश्किल नहीं। एक पव में काउण्टर के पीछे सात घण्टे खड़े रहना पड़ता था। वियर और लिकर के गिलास धोने पड़ते थे। ग्यारह वजे घण्टी वजानी पड़ती थी और पियक्कड़ लोगों को वाहर खदेड़ना पड़ता था। कुछ दिन तक मैं कहीं वाहर न जा सका। घर लौटता और विस्तर पकड़ लेता, मानो पिछले महीनों की नींद कोई पुराना वदला निकाल रही हो। नींद खुलती, त वारिश दिखायी देती, जो घड़ी की टिक-टिक की तरह वरावर चल रहती। कभी-कभी भ्रम होता कि मैं मर गया हूं—और अपनी कब्र दूसरी तरफ से—वारिश की टप-टप सुन रहा हूं।

लेकिन एक दिन आकाश दिखायी दिया—पूरा नहीं—सिर्फ एक न डूवी-सी फांक—और उसे देखकर मुझे अकस्मात पार्क के दिन याद हो यहूदी रेस्तरां की विल्ली और वाजार जाती हुई मिसेज टामस। व छुट्टी का दिन था। उस दिन मैंने अपने सवसे वढ़िया कपड़े पहने और से वाहर निकल आया।

लायब्रेरी खुली थी। सव पुराने चेहरे वहां दिखायी दिये। पा

पड़ा था। पेड़ों पर पिछले दिनों की बारिश चमक रही थी। वे सिकुड़े-से दिखायी देते थे, जैसे आनेवाली सर्दियों की अफवाह उन्हें छू गयी हो।

मैं दोपहर तक प्रतीक्षा करता रहा। ग्रेता कहीं दिखायी न दी, न बेंच पर, न पेड़ों के पीछे। धीरे-धीरे पार्क का पीला, पतझड़ी आलोक मन्द पड़ने लगा। पाँच बजे अस्पताल का गजर सुनायी दिया और मेरी आँखें अनायास फाटक की ओर उठ गयी।

कुछ देर तक कोई दिखायी नहीं दिया। फाटक के ऊपर लोहे का हैण्डिल शाम की आखिरी धूप में चमक रहा था। उसके पीछे अस्पताल की लाल ईंटोंवाली इमारत दिखायी दे रही थी। मुझे मालूम था, उन्हें घर जाने के लिए पार्क के बीच में निकलना होगा, किन्तु फिर भी मैं अनिश्चित निगाहों से कभी फाटक को देखता था, कभी सड़क को। यह खयाल भी आता था कि शायद आज उनकी ड्यूटी अस्पताल में न हो और वे दोनों घर में ही बैठे हों।

सड़क की बत्तियाँ जलने लगीं। मुझे अजीब-सी घबराहट हुई, जैसे प्रतीक्षा का अन्त आ पहुँचा है और मैं उसे टालता जा रहा हूँ। मैं बेंच से उठ खड़ा हुआ—खड़े होकर प्रतीक्षा करना ज्यादा आसान जान पड़ा। किन्तु तभी मुझे फाटक के निकट सरसराहट सुनायी दी। उनके चेहरे को बाद में देखा, उनकी सफेद पोशाक पहले दिखायी दी। वे तेज कदमों से पार्क के बीच पगडण्डी पर चल रही थी। उन्होंने मुझे नहीं देखा था। यदि वे मेरी दिशा में आ रही होतीं, तो भी शायद धुँधलके में मुझे नहीं पहचान पातीं।

मैं भागता हुआ उनके पीछे चला आया।

"मिसेज पार्कर!" पहली बार मैंने उन्हें उनके नाम से बुलाया था।

वे ठहर गयीं और भौंचक-सी मेरी ओर देखने लगीं। "आप यहाँ कैसे?" अब भी वे अपने को नहीं सँभाल पायी थी।

"मैं यहाँ दोपहर से बैठा हूँ।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

वे हकबकाई-सी मुझे देख रही थी। उन्होंने मुझे पहचान लिया था, लेकिन जैसे उस पहचान का मतलब नहीं टोह पा रही थी। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया और सहज स्वर में पूछा, "आज आप इतनी देर से लौट रही हैं? पाँच का गजर तो कब का बज चुका?"

पाँच का गजर ?" उन्होंने विस्मय से पूछा।
'आप हमेशा पाँच बजे लौटती थीं।" मैंने कहा।
"ओह !" उन्हें याद आया, जैसे मैं किसी प्रागैतिहासिक घटना का
ख कर रहा हूँ।
"आप लन्दन में ही थे।" उन्होंने पूछा।
"मुझे काम मिल गया, इतने दिनों से इसलिए नहीं आ सका। ग्रेता
ी है ?"
वे हिचकिचायीं—एक छोटे क्षण की हिचकिचाहट, जो कुछ भी मानी
हीं रखती—लेकिन शाम के धुँधलके में मुझे वह अपशकुन-सा जान पड़ी।
"मैं आपको बताना चाहती थी, लेकिन मुझे आपका घर नहीं मालूम
था..."
"वह ठीक है ?"
"हाँ, ठीक है," उन्होंने जल्दी में कहा, "लेकिन वह अब यहाँ नहीं है।
कुछ दिन पहले उसके पिता आये थे, वे उसे अपने साथ ले गये..."
मैं उन्हें देखता रहा। मेरे भीतर जो कुछ था, वह ठहर गया—मैं
उसके भीतर था, उस ठहराव के, और वहाँ से दुनिया बिल्कुल बाहर दिखायी
देती थी। मैंने कभी इतनी सफाई से बाहर को नहीं देखा था।
"कब की बात है ?"
"जिस दिन आप उसके साथ ट्रिफालार स्क्वैयर गये थे—उसके दूसरे
दिन ही वे आये थे...आप जानते हैं, उन्हें वहाँ काम मिल गया है।"
"और आप ?" मैंने कहा, "आप यहाँ अकेली रहेंगी ?"
"मैंने अभी कुछ सोचा नहीं है।" उन्होंने धीरे से सिर उठाया, आवाज
हल्के से काँपी थी, और एक क्षण के लिए मुझे उनके चेहरे पर बच्ची
दिखायी दी, ऊपर उठा हुआ होंठ और भीगी आँखें, हवा में उड़ते हुए
कबूतरों को निहारती हुई।
"आप कभी घर जरूर आइयेगा..." उन्होंने विदा माँगी और मैंने
हाथ आगे बढ़ा दिया। मैं बहुत दूर तक उन्हें देखता रहा। फिर काफी देर
तक बेंच पर बैठा रहा। मुझे कहीं नहीं जाना था, न ही प्रतीक्षा करनी थी
धीरे-धीरे पेड़ों के ऊपर तारे निकलने लगे। मैंने पहली बार लन्दन

आकाश में इतने सारे देखे थे, साफ और चमकीले, जैसे बारिश ने उन्हें भी धो डाला हो।

"इट इज टाइम डियर!"

पार्क के चौकीदार ने दूर से ही आवाज लगायी। वह गेट की चाभियां खनखनाता हुआ पार्क का चक्कर लगा रहा था। टार्च की रोशनी में वह हर बेंच, झाड़ी और पेड़ के नीचे देख लेता था कि कहीं कोई छूट तो नहीं गया—कोई सोया हुआ बच्चा, कोई शराबी, कोई घरेलू बिल्ली।

वहां कोई नहीं था। कोई भी चीज नहीं छूटी थी। मैं उठ खड़ा हुआ और गेट की तरफ चलने लगा। सहसा हवा उठी थी। हल्का-सा झोंका अँधेरे में चला आया और पेड़ सरसराने लगे। और तब मुझे धीमी-सी आवाज सुनायी दी, एक असीम आग्रह में लिपटी हुई—'स्टॉप' स्टॉप'''' मेरे पाँव बीच पार्क में ठिठक गये। चारों ओर देखा। कोई न था। न कोई आवाज, न खटका—सिर्फ पेड़ों की शाखाएं हवा में डोल रही थीं। उस समय एक पगली-उत्कट, नंगी-सी, आकांक्षा मेरे भीतर जागने लगी कि यहीं बैठ जाऊँ। इन पेड़ों के बीच जहाँ मैं पहली बार पकड़ा गया था। मेरी अब और आगे जाने की इच्छा नहीं थी। मैं इस बार अन्तिम और अनिवार्य रूप से पकड़ लिया जाना चाहता था''

"इट इज क्लोजिंग टाइम!" चौकीदार ने इस बार बहुत पास आकर कहा। मेरी तरफ जिज्ञासा से देखा कि क्या मैं वही आदमी हूँ, जो अभी कुछ देर पहले बेंच पर बैठा था।

इस बार मैं नहीं मुड़ा। पार्क से बाहर आकर ही साँस ली। मेरा गला सूख गया था और देह खोखली-सी जान पड़ती थी। पार्क के सामने पब की लालटेन झूलती दिखायी दी। मैंने जेब से पर्स निकाला, पैसे गिनने के लिए। पुरानी गरीबी की यह आदत अब भी बची थी। मैंने हैरानी से देखा कि मेरे पास पूरे दो पौण्ड हैं—और तब मुझे याद आया कि मैं उन्हें कबूतरों के दानों के लिए लाया था।

जिन्दगी यहाँ और वहाँ

और तब फोन की घण्टी बजी और वह समझ गया, यह वह है—वह भागता हुआ मेज के पास आया, "हलो", उसने कहा, "यह मैं हूँ।" दूसरी तरफ सन्नाटा रहा, "हलो," जैसे वह उसकी सहमी, ठिठुरती आवाज सुन रही हो। "हलो, हलो", उसने थूक निगलकर कहा, "कौन है? आप कौन हैं?"

उसने फोन के ऊपर देखा। खाली दीवार, जनवरी का महीना, एक खिड़की, जिसका पर्दा उठ गया था। मैं दस तक गिनती गिनूंगा, उसने सोचा, इस बीच कुछ नहीं बोलूंगा, वह फोन बन्द कर देगी और खतरा टल जायेगा। हुआ भी यही—दूसरी तरफ सन्नाटा हो गया—और वह गिनने लगा—पर दूसरे ही क्षण उसका स्वर सुनायी दिया, घबराया-सा, नर्वस, फोन के काले सन्नाटे को भेदता हुआ, "फैंटी, तुम सुन रहे हो? तुम बोलते क्यों नहीं? यह तुम क्या बुड़बुड़ा रहे हो···मैं सुन भी नहीं सकती।"

"मैं गिनती गिन रहा था।" उसने खिसियानी-सी आवाज में कहा। "क्या कहा? गिनती?" वह धीरे से हँसी—एक छोटी-सी हताश हँसी—जो फोन के भीतर एक घबरायी चिड़िया-सी घूम रही थी—"सुनो, आज मैं तुम्हारे घर नहीं आ सकूंगी···मैं लायब्रेरी में रहूँगी।" उसने कहा, "क्या तुम वहाँ आ सकोगे?" मन में आया, कह दे, इरा आज नहीं, आज मुझे काम है। काम? वह उसकी आवाज को पकड़ लेगी, मरोड़कर उसका झूठ निचोड़ देगी—घर में अकेले रहना कोई काम है? वह विश्वास नहीं करेगी—वह सोचेगी मैं फिर उसे सता रहा हूं, कितना विचित्र है, जब तुम

उनसे कहो, कि तुम अकेले रहना चाहते हो—तो यह जानते हुए भी कि तुम अकेले घर में रहते हो—वे कभी तुम्हारा विश्वास नहीं करते। अगर तुम खाली हो—तो खाली कैसे रह सकते हो?

कोई फायदा नहीं। उसने फोन को दोनों हाथों से पकड़ लिया—जैसे यह उसका छोटा-सा सिर हो, कन्धों पर गिरते बाल, माथे पर काली बिन्दी, दो फफकती-सी आँखें—"नहीं, नहीं, मुझे कोई काम नहीं, मैं आऊँगा···मुझे कनाट प्लेस में एक काम भी है। उसे निपटाकर सीधा चला आऊँगा—क्या कहा? जरा ऊँचा बोलो, मैं कुछ भी नहीं सुन सकता···"

"मैं दिन-भर लायब्रेरी में रहूँगी"—उसकी आवाज सहसा बहुत धीमी पड़ गयी—जैसे घूमती चिड़िया बहुत थक गयी हो, निढाल-सी पसर गयी हो—"तुम किसी भी समय आ सकते हो। मुझे"—एक क्षण वह झिझकी—"मुझे तुमसे कुछ काम है,—मुझे—" पर यहाँ वह चुप हो गयी। वह देख सकता था—उसके स्वर का पीला रंग, जो फोन के सन्नाटे पर छितरा आया था—डूबता हुआ, अपनी गूँज की तस्वीर दीवार पर खींचता हुआ···

क्या तुम अब भी वहाँ हो?

पता नहीं, वह क्या सोचती होगी? वह पूछती नहीं थी। वह देखती भी नहीं थी। वह बीच का रास्ता निकाल लेती थी—देखने और पूछने के बीच—जिसे वे 'जानना' कहते थे। किन्तु कभी-कभी वह भूल जाती। वह सोचती, वह उसके साथ है। अचानक लाल बत्ती जल जाती—और वह ठिठक जाती। पीछे मुड़कर देखती तो वह कहीं दिखायी न देता। बाद में जब वह उससे मिलती, तो पूछने का साहस भी न कर पाती कि वह कहाँ गया था।

वह दूसरे दिन फोन करती—और वह घर में होता। उसका घर में रहना—यह पक्की बात थी, एक ठोस चीज। इसमें कोई शक नहीं था कि वह फोन करेगी और वह घर में होगा। वह हमेशा कनॉट प्लेस के गलियारे में एक पब्लिक बूथ में फोन करती थी। वह डायल घुमाती थी—और घण्टी बजने लगती थी। वह बूथ के शीशे के बाहर देखने लगती—अगस्त का भीगा प्रकाश, कनॉट प्लेस के पेड़, लॉन पर बैठे हुए लोग···वह

ढियां उतर रहा होगा। इतना बड़ा, अकेला घर, खाली कमरे
। घण्टी जैसे किसी उजाड़ जर्जरित गिरजे के बीच प्रार्थना कर रही हो,
त्थरों को छूकर वापस लौट आती हो। बारिश के दिन में बूथ के शीशे
र बुंदकियां छिटक जातीं—धुंधले-से बादल छतों पर घूमते रहते—दिल्ली
एक टिमटिमाता-सा दीया दिखायी देता—धुन्ध पर तिरता हुआ—"हलो,
हलो—यह मैं हूं, और तुम…?"

मैं यहां हूं।

यहां—अपने कमरे में—। यहां जून की शामें बुरी नहीं होतीं, आकाश से राख झरती है और सूरज एक उपेक्षित कोने में सुलगता रहता। वह लायब्रेरी के एक कोने में बैठी रहती और वह—अपने छतवाले कमरे में। अब कोई फोन नहीं आयेगा…वह निश्चिन्त होकर बैठ जाता। कमरे में अंधेरा कर लेता। पंखे की हवा में समूची पीड़ा को पसीने के साथ बहा देता।

अब कोई नहीं आयेगा। वह चली गयी है। उसने उसे जाते देखा है। वह महीनों को उल्टा गिनने लगता है—और जनवरी पर आकर रुक जाता है। हमेशा एक ही महीने पर—जैसे बैगाटेल की गोली चारों तरफ टकराकर, बार-बार एक ही सूराख में घुस जाती हो। वे सर्दियों के दिन थे और वह बाहर अंधेरे में खड़ा था। उसके कमरे की बत्ती जल रही थी—वह ठिठु
रहा था—वह नींद नहीं है—वह एक दूसरा समय है—नींद की ही तर
छांहदार, वह झाड़ियों के पीछे खड़ा है—उसके कमरे को देख रहा है—
वही नींबू की झाड़ी और एक छोटा-सा लॉन—खाली और उजाड़। वहां
कोई नहीं रहता।

विश्वास नहीं होता, मैं वही आदमी हूं, जो चार महीने पहले
उसके घर के बाहर अंधेरे में खड़ा था। फैटी, तुम, वही हो—सच! तुम
हो और बिल्कुल नहीं बदले। मैं वही हूं, जो पैंतीस साल पहले इस दुनि
आया था। यदि वे जीवित होते, तो एकदम उसे पहचान जाते। य
बरसों बाद घर लौटकर आओ—तो वे एकदम पहचान लेते हैं—प
नहीं जानते, तुम कहां से लौटकर आये हो। वे कभी सोच भी नहीं
कि इतनी यातना सहकर उन्होने जिसे जन्म दिया है, वह बड़ा होक
यातना बर्दाश्त कर सकता है—इसीलिए वे चले जाते हैं। अपने

पहले ही उठ जाते हैं। खत्म हो जाते हैं…मर जाते हैं!

और बच्चे? उन्हें कोई जल्दी नहीं—एक खाली मकान और अन्तहीन समय। मैं उनमें हूँ। मैं बचा रह गया हूँ। मुझे कोई जल्दी नहीं।

शुरू में ऐसा नहीं था। वह हमेशा जल्दी में रहता था। वह जब अकेला दिखायी देता, तो भी लगता जैसे कोई उसके साथ है, एक कुत्ते की तरह उसके पीछे घिसटता जा रहा है। वह कभी अचानक बीच सड़क पर खड़ा हो जाता—जैसे उसने किसी को देख लिया हो-पेड़ के नीचे कोई अद्भुत-सा कीड़ा, धूप में नहाती कोई तितली—या कोई ट्यून पियानो से बाहर आती हुई, जिसे सुनकर वह बंगले की दीवार से सट जाता। मुस्कराने लगता—और तब मुझे अजीब-सा भ्रम होता कि वह उन अकेले लोगों में है, जो अकेला होने पर भी सारी दुनिया साथ लेकर चलते हैं। मुझे कभी-कभी तीव्र-सी आकांक्षा होती है कि एक बार मैं दीवार पर चढ़कर नीचे—वहाँ उसके अकेलेपन में—झाँककर देख सकूँ…वह किससे बोलता है, कहाँ जाता है,—क्यों अचानक मुस्कराने लगता है।

पर मैं लायब्रेरी में बैठी रहती—और उसे दूर से देखा करती। अब कभी मैं लिखते-लिखते थक जाती तो डेस्क पर अपना माथा टिका देती—अपनी थीसिस के बारे में भूल जाती—और उन दिनों के बारे में सोचने लगती—जब मैं शहर में घूमा करती थी। दिल्ली बड़ा शहर था। पर कुछ ऐसी जगहें थीं, जहाँ एक-दो चेहरे बार-बार दिखायी दे जाते थे। मैं घर से बाहर निकलती…जैसे कुछ लोग जुआ खेलने या रेसकोर्स में जाते हैं—क्या उन्हें सही पत्ता हाथ लग जायेगा? कौन-सा घोड़ा सबसे आगे भागेगा? मैं अपने से खेलने लगती…क्या वह इस कंसर्ट में आयेगा? या इतवार के दिन नेशनल म्युज़ियम के हाल में मुझे भ्रम होता, वह भी कहीं पीछे खड़ा है, सातवीं शती की किसी मूर्ति को देख रहा है। वह अचानक दिखायी दे जाता—और तब मैं जीत जाती। मेरा दिल तेजी से धड़कने लगता, किसी थियेटर से बाहर आते हुए या म्युज़िक कान्फ्रेंस में जो सर्दी की रातों में देर तक चलती रहती…मैं टैक्सी की तलाश में एक तरफ खड़ी रहती और वह दूसरी तरफ बस-स्टैण्ड की तरफ जाता हुआ दिखायी दे जाता—जहाँ स्कूटर

खड़े रहते।

दिल्ली अजीब शहर है—कुछ ऐसे स्थल हैं—जहाँ वे हमेशा दिखायी दे जाते हैं। एक चलती-फिरती दुनिया—जिसके सदस्य एक-दूसरे को नहीं जानते···फिर भी हमेशा एक-दूसरे से मिलते हैं, अंधेरे हाल में एक साथ ताली बजाते हैं—पर एक-दूसरे को जानते नहीं, छूते नहीं—तमाशा खत्म होते ही अपने-अपने कोनों में खो जाते हैं।

फिर गर्मियाँ आयीं और लोग बाहर जाने लगे—नैनीताल, मसूरी, शिमला—उन मौसमी परिन्दों की तरह जो सीजन बदलने पर अपने घोंसलों को छोड़कर उड़ जाते हैं। दिल्ली की सड़कों पर अब भी भीड़ दिखायी देती—किन्तु वे लोग, जिन्हें हम जानते थे—अब कहीं दिखायी नहीं देते थे। थियेटर के हाल बन्द हो जाते···म्युजियम के गलियारे उजाड़ दिखायी देते—जैसे बाहर का समय भी—भीतर की उनींदी कलाकृतियों की नींद में शामिल हो गया हो···

एक दिन विचित्र घटना हुई। मैं लायब्रेरी में बैठी थी···पिछली सीट पर—जहाँ रोशनदान की रोशनी सीधे डेस्क पर पड़ती थी। एक गौरैया रोशनदान के शीशे पर तिनके जमा कर रही थी—और उसकी छाया सीधे मेरे नोट्स पर गिर रही थी—मुझे यह डिटेल अच्छी तरह याद है—क्योंकि अचानक मुझे लगा, कि किसी ने आकर उस गौरैया को बीच में काट दिया हो और उसे अपनी ओट में छिपा लिया हो। मैंने सिर उठाया, तो वह दिखायी दिया। यह पहला मौका था, जब मैंने उसे पहली बार इतनी पास से देखा था।

वह निश्चल खड़ा रहा···जैसे वह गलत रास्ते पर है और वापस मुड़ना चाहता है···क्या मैं आपको डिस्टर्ब कर रहा हूँ? मैंने सिर हिलाया और जल्दी से कागज समेट लिये जैसे मैं उन्हें उसकी आँखों से बचा रही हूँ—पर उसकी आँखें मुझ पर थीं, और उनमें एक दूर का दिलासा था—मैं मुस्कराने लगी। "क्या कुछ काम है?" मैंने पूछा—उसने एक मुड़ा-तुड़ा कागज मेरे नोट्स की कापी पर रख दिया। मैं उसे देखते ही पहचान गयी—कि वह कोई स्टेटमेंण्ट है, कोई पिटीशन, कोई 'ओपन-लेटर' जैसी चीज—ईश्वर ही जानता है, ऐसी चीजें उन दिनों कितनी निकला करती थीं। मैं उसे ध्यान

से पढ़ने लगी, पर मेरा ध्यान उसकी तरफ लगा था'''वह अब भी खड़ा था, मुझे क्या करना होगा ? मैंने उसकी ओर देखा। कुछ नहीं, उसने कहा, अगर आप इससे सहमत हैं, तो साइन कर दीजिए। इसका कोई फायदा होगा ? मैंने कुछ चिढ़ाते हुए कहा —ताकि वह बाहर निकल सके, सामने आ सके। होगा क्यों नहीं उसने कहा —फायदा नहीं, लेकिन अगर हम उनका ध्यान अन्याय की तरफ खींच सकें'''कोई और कहता तो मैं हँसने लगती, लेकिन वह लायब्रेरी के आधे अँधेरे में चुप खड़ा था · बाहर जून की तपती, घुटती शाम थी। ऐसी घड़ी में न्याय-अन्याय की बात मुझे हिमालय की चोटी-सी जान पड़ी, ठण्डी और सफेद और पवित्र—पहुँच के परे—*कुछ शब्द अचानक भीड़ से अलग हो जाते हैं—खोये से, लावारिस* —प्रेम और पाप, ईश्वर, झूठ और न्याय और मौत —ठहरे पानी में अलग-अलग साबुत, चमकते, सुडौल पत्थरों की तरह मैंने जल्दी से कागज उठाया और दूसरे नामों के नीचे अपना नाम लिखने लगी और तब मुझे एक अद्भुत-सा विचार आया -अपना नाम लिखते हुए--कि मैं उससे फिर मिलूँगी --किसी और दिन क्योंकि मेरा नाम ठीक एक दूसरे नाम के नीचे था, जिसे यातना कहते हैं।

पर यह दूर की बात थी और उस दिन मैंने उसे नहीं जाना था।

उन दिनों वे अकसर मिलते थे। दिल्ली में जून का महीना एक अलौकिक-सी चमक लेकर आता था—धूल के मैले पर्दे पर सूरज एक मोमबत्ती-सा पिघलता रहता और कोई बादल एक पतंगे-सा उठकर उसे अपने में ढक लेता। एक क्षण के लिए शहर पर अँधेरा घिर आता -- और एक फटी-फटी सफेदी लायब्रेरी के भीतर झाँकने लगती। वे बड़े हाल की बत्तियाँ जला देते और दरवाजे खोल देते। वह अपनी थकी आँखें ठण्डे डेस्क पर मूँद लेती।

वह घर की सीढ़ियाँ उतरने लगता। बीच में बहुत-सी सड़कें आतीं और वह उनसे बचकर कनॉट प्लेस के गलियारे में चला आता। ठण्डे अँधेरे गलियारे में चलने लगता। बाहर धूप में औरतें मुनियाँ खातीं --पानी में तर और तीखी —और उनके परे गुलमुहर के पेड़ धूप में दहकते रहते।

दो गलियारों के बीच सड़कें आतीं—और उन्हें पार करते हुए वह

का हाथ पकड़ लेती—तब तक पकड़े रहती—जब तक वे दुबारा अंधेरे कॉरीडोर में नहीं चले आते। पहली बार उन्होंने एक-दूसरे को इसी तरह छुआ था—डर में—रास्ते पर, सड़क पार करते हुए। यह ठीक नहीं था। यह एक तरह का अपशकुन था जो छाया की तरह आखीर तक मँडराता रहता है। बाद में, जब हम अकेले सड़क पार करते हैं, तो खाली हाथ हवा में डोलता है—पुरानी छुअन की याद में—उस अपाहिज की तरह, जिसे मौके-बेमौके अपने कटे अंग की याद आ जाती है—यह एक छोटी-सी मृत्यु है। लोग बहुत धीरे-धीरे मरते हैं।

मैं मरूँगा नहीं—फैटी ने सोचा। अभी नहीं। मेरे पिता सत्तर की उम्र में मरे थे—और माँ अभी कुछ वर्ष पहले तक जीवित थी। हमारे परिवार में लोग काफी लम्बी उम्र तक दुनिया को भोगते हैं। मरने के बाद भी वे जाते नहीं– वे यहाँ हैं, वे हस्तक्षेप नहीं करते, बोलते नहीं—किन्तु जब मैं कोई चीज खो देता हूँ, दुख सहता हूँ—तो वे अचानक अँधेरे कोने से बाहर निकल आते हैं, अपनी झोली में मेरे खोने और दुख को सँभाल लेते हैं···वे मेरे जीने में नहीं, पर मरने में जरूर साझा करने को तैयार रहते हैं—जैसे मेरे कानों में फुसफुसाकर कहते हों···डरो नहीं। तुम बेशक हमें भुला दो, हम तुम्हें नहीं भुला सकते।

वह अँधेरे कॉरीडोर से बाहर निकल आया—और उसकी आँखें चका-चौंध हो गयीं। एक क्षण के लिए उसे कुछ दिखायी नहीं दिया—फिर धीरे से किसी ने उसका हाथ पकड़ा और कहा—डू यू नीड चीप एयर-टिकट टु नेपाल?

नेपाल? उसने आँखें खोलीं और हँसने लगा। वह बहुत महीने पी... मुड़ गया—जब वे साथ चल रहे थे। वे तुम्हें विदेशी समझते हैं—उस... कहा। मुझे देखकर नहीं—उसने कहा—जब तुम मेरे साथ नहीं होतीं, ... न मुझसे कोई डॉलर माँगता है, न कोई नेपाल का टिकट बेचता है। ... देखकर? वह हैरान हो जाती—शायद बहाना करती—या सचमुच है... हो जाती, अपने सिर का स्कार्फ उतारकर बालों को समेट लेती। वह क... ऊँचे कद की लड़की थी, ऐनक के पीछे आँखें डरी हुई उत्सुकता में... रहतीं। कन्धे पर थैला लटकता रहता और उसमें एक नीली फाइल...

फुलस्केप कागज और लायब्रेरी की किताबें ठुँसी रहती। ईश्वर ही जानता है, उस थैले में क्या भरा रहता था!

"तुमने ले क्यों नहीं लिया?" उसने हँसी में आँखें ऊपर उठायीं—"इतने सस्ते में नेपाल घूम सकते हो।"

"सुनो—हम अगली गर्मियों में जा सकते हैं..." उसने खुशी की रौ में कहा।

अगली गर्मियों में? उसके स्वर में हल्का-सा विस्मय था। वे थीसिस के आखिरी दिन थे और वह न सर्दियों के बारे में सोचती थी, न गर्मियों के। लायब्रेरी से घर और घर से लायब्रेरी—यह कितनी छोटी दुनिया थी—और कितनी बड़ी। इनके बीच नेपाल एक स्वप्न-सा जान पड़ता था। पर उस क्षण—कनॉट प्लेस के अँधेरे कॉरीडोर में चलते हुए—उसे अजीब-सा सुख हुआ कि वह जा सकती है। इस दुनिया से बाहर निकल सकती है...

सुख? क्या कोई ऐसी चीज है, जिस पर उँगली रखकर कहा जा सके, यह सुख है, यह तृप्ति है? फैटी एक खम्भे के सहारे खड़ा हो गया—बाहर कनॉट प्लेस का फव्वारा दीवाली के अनार की तरह सुलग रहा था—तितीरी धूप में सफेद फुहार ऊपर उठ रही थी, नीचे गिर रही थी—नहीं, सुख होता नहीं, सिर्फ याद किया जा सकता है—अपनी यातना में—जब तुम्हें अचानक पता चलता है—यह जून है, वह जनवरी था। तुमने सोचा था, उसके चले जाने के बाद तुम इस शहर में नहीं रहोगे। पर तुम जीवित हो और साँस ले रहे हो...आदमी की खाल कितनी पक्की होती है! सबकुछ बर्दाश्त कर लेती है। पानी में डूबकर एक कुत्ते की तरह बाहर आ जाती है, जो एकबारगी अपनी देह झिंझोड़कर सबकुछ झाड़ देता है। पानी का अँधेरा कितनी देर याद रह सकता है?

वह स्टेट्समैन की बिल्डिंग के सामने चला आया। वह खड़ा हो गया—लाल बत्ती को हरी बत्ती में बदलने की प्रतीक्षा में—ऊपर तोतों का झुण्ड उड़ा जा रहा था—कर्जन रोड के पेड़ों से उड़कर मिण्टो रोड के ब्रिज के ऊपर, हवा में एक लहर की तरह उठता हुआ।

एक बार ऊपर रेल जा रही थी और वे नीचे थे। वे नीचे बस में बैठे

थे। ऊपर मिण्टो रोड का पुल था। "तुमने कुछ माँगा ?" उसने उत्सुकता से मेरी ओर देखा -- "इस वक्त तुम जो कुछ माँगोगे, वह मिल जायेगा।" मैं हँसने लगा—मुझे नहीं मालूम था, वह इन चीजों में विश्वास करती है··· "जल्दी माँगो, वरना रेल गुजर जायेगी।" एक क्षण के लिए हम दोनों चुप बैठे रहे और बस पुल के बाहर निकल आयी। वह बारिश की शाम थी और एक अवसन्न-सा उजाला उसके चेहरे पर गिर रहा था। "बोलो—तुमने क्या माँगा था ?" उसने मुझे देखा—इतनी उदास आँखों से···मैंने मुँह मोड़ लिया और बस की खिड़की से बाहर देखने लगा। उस शाम—मिण्टो रोड ब्रिज के नीचे—जब ऊपर रेल गुजर रही थी—उन दोनों ने एक ही इच्छा माँगी थी, एक दूसरे से अलग होने की···वे जितना ज्यादा एक-दूसरे को चाहते थे, उतना ही एक-दूसरे से छुटकारा पाने के लिए तड़पते थे—जैसे चाहना कोई पाप हो, कोई बुरा स्वप्न, और तब हरी बत्ती हुई और वह सड़क पार करने लगा—और कर्जन रोड के पीले, धूल में सने पेड़ों के नीचे चला आया। उनके नीचे चलते हुए उसे अचानक याद आया कि जीसस ने कहा था कि जिसके पास है, उसे और भी दिया जायेगा, और जिसके पास कुछ नहीं है, उससे वह भी ले लिया जायेगा जो कुछ उसके पास है।

पता नहीं, इसका क्या मतलब था ?

मैं अभी जाऊँगा और उससे यही पूछूँगा···और तब मेरे भीतर एक बहुत धुँधली तस्वीर खिंच आती है—वह लायब्रेरी के एक कोने में बैठी होगी, अपनी रिसर्च की कापियों में डूबी हुई। वह सोच रही होगी—अब मैं नहीं आऊँगा। वह दुबारा फोन करेगी—और घर में कोई नहीं होगा—घर के सूने कमरों में फोन की घण्टी बेमतलब चीखती रहेगी—क्योंकि मैं यहाँ हूँ, कर्जन रोड के पेड़ों के नीचे : ऊपर तोतों का झुण्ड शाम की धूप में मिण्टो ब्रिज की तरफ जा रहा है, बाइबिल का सिर्फ एक वाक्य दुहराता हुआ···जिसके पास है और···जिसके पास नहीं है।

वह एक खेल था। वे दोनों खेलते थे—खासकर उन दिनों—जब वह बहुत थक जाती : लायब्रेरी से सीधे आकर उसके कमरे में लेट जाती थी। वह अपने कमरे के दरवाजे खोल देता—नीचे के कमरों में सन्नाटा रहता, और

वे बन्द रहते थे।

सिर्फ छत खुली रहती—जून का अंधेरा छोटे-छोटे टुकड़ों में आता था। हर टुकड़े पर ढेर-से तारे बिछे रहते—वे उन्हें दरवाजे पर सरकता हुआ देखते रहते।

वह एक खेल था—जादू और चमत्कार—जहाँ वे दोनों बिना एक शब्द भी बोले एक-दूसरे की इच्छा भाँप लेते थे। कुछ लोग इसे टेलिपैथी कहते हैं—जब दो अलग-अलग व्यक्ति एक ही घड़ी में एक ही बात सोच लेते हैं। वे जब उसके कमरे में आते थे, तो वह अँधेरे में आँखें मूँदकर लेट जाती थी—थकी और निढाल। वह हीटर पर पानी उबालने रख देता—और फिर उसके पास आकर बैठ जाता। दोनों अँधेरे में एक-दूसरे की साँसें सुनने लगते।

"सुनो," उसने सिर उठाकर कहा, "मैंने कभी तुम्हारे फादर को नहीं देखा।"

"तुम्हें मालूम नहीं, वे मर गये।"

"मुझे मालूम है," उसने कहा, "पर तुमने कभी उनकी फोटो भी नहीं दिखायी?"

वह उठ बैठती—और खेल शुरू हो जाता। वह काफी विचित्र खेल था, क्योंकि कुछ देर के लिए हम एक-दूसरे को बिल्कुल भूल जाते थे"इस समय से छूटकर एक दूसरे समय में चले जाते थे, जहाँ मेरा घर धीरे-धीरे जागने लगता। बन्द कमरों के दरवाजे खुल जाते, जैसे वह एक म्युजियम हो, मैं गाइड हूँ—और वह चुपचाप आँखें फाड़ते हुए हर चीज को देखने लगती"' मैं एक आलमारी खोलता, फिर दूसरी—पता नहीं, वह फोटो कहाँ थी, जो तीस साल पहले ली गयी थी। उसे ढूँढते हुए दूसरी चीजें बाहर आ जातीं। मैं उन्हें छिपाने की कोशिश करता और वह मेरा हाथ हटा देती—मुझे याद है, वह माँ की नथ बहुत ध्यान से देखा करती थी। मैं उससे नफरत करता था, क्योंकि उसने माँ की समूची नाक छील डाली थी'''आलमारी के दूसरे कोने में मेरे पिता के नकली दाँत रखे थे। मैंने उन्हें सँभालकर रखा था, उसी गिलास में, जिसमें वे उन्हें उतारकर रखते थे। दाँतों के बीच अब भी डबल रोटी के कुछ टुकड़े फँसे थे, जो उन्होंने पिछली रात खाये थे'''.

"मरने से एक रात पहले ?" उसने पूछा। वह मेरे पीछे खड़ी थी—उसका हाथ मेरे कन्धे पर था, जैसे वह मुझे बचाने की कोशिश कर रही हो। पर मैं बचाव के बाहर था। मैं बरसों से उस घर में अकेला रहा था। मैं उसके कोने-कोने को जानता था।

मुझे किसी बचाव की जरूरत नहीं थी।

"यह पलंग देखती हो···यह बिस्तर।" उसने कहा, "वे यहाँ लेटते थे। मैं ऊपर सोता था—वहाँ ऊपर बरसाती में—जहाँ तुम आती हो।"

मैं उसके पीछे चलती गयी। वह एक लम्बा हाल था। कोने में एक तिपाई रखी थी। पीछे कपड़ों की वॉर्डरोब। उसने खिड़की खोली—और तब अचानक रोशनी का सैलाब भीतर चला आया, जैसे बरसों से बाहर जमा हो, भीतर आने की प्रतीक्षा में। रोशनी बिस्तर पर आ रही थी—एक उठा हुआ तकिया, दो कम्बल, बीच में एक गड्ढा—जैसे कोई वहाँ लेटा था—अभी-अभी बाहर गया था।

"यह उनका बिस्तर था ?"

मैंने उसकी ओर देखा—और तब मेरा दिल जोर से धड़कने लगा। मुझे लगा, जैसे मैंने किसी प्रेत को देखा है—कोने में खड़ा हुआ—मुस्कराता हुआ। तब मुझे अचानक याद आया, वह सड़क पर चलता हुआ इसी तरह मुस्कराता था—अपने आप—अकेले में—जैसे उसने किसी अदृश्य चीज को देखा है—भीतर की दुनिया से बाहर आते हुए—वह ठिठक जाता था। वह खुद अपने से बोलने लगता था···

"फैटी," मैंने उसका कन्धा हिलाया। उसने मेरी ओर देखा—जैसे मैं कोई शीशे की दीवार हूँ—और वह मेरे भीतर गुजरकर मेरे पार देख रहा है, "हाँ—वे यहीं मरे थे।" उसने कहा, "मैं उनकी तिपाई पर दवा रख देता था। पेशाब की बोतल साफ कर देता था। मैं उनके सिरहाने की खिड़की खोल देता था। तुम जानती हो, दिल्ली में अगस्त की रातें कितनी साफ होती हैं—सोने से पहले वे आकाशगंगा देखते थे। उन्हें कभी नींद की गोलियों की जरूरत नहीं महसूस हुई। वे कहते थे—तारों के बीच सफेद लाइन पर चलते हुए मुझे नींद आ जाती है। मेरी तरफ हैरानी से मत देखो—वे सचमुच विचित्र आदमी थे। जब उन्हें पता चला कि मैं लिखता हूँ तो एक

दिन उन्होंने मुझे अपना रजिस्टर दिखाया मरने से दो दिन पहले। प्लीज टर्न टु पेज नाइनटी सेवेन'''उन्होंने कहा। वे अपने बच्चों से हमेशा अंग्रेजी में बोलते थे। मैंने रजिस्टर खोला, तो सत्तानवे पृष्ठ पर सारा पन्ना खाली पड़ा था—सिर्फ ऊपर लिखा था —लाइफ हियर—ऐण्ड हियर आफ्टर! मैंने उनकी तरफ देखा—तो वे मुस्कराने लगे'''यह टाइटिल है —उन्होंने कहा। जब बैठने लायक हूँगा, तो सबकुछ लिख डालूँगा। मैं बहुत कुछ उन जैसा हूँ। मेरी बड़ी बहन मुझसे कहती थी कि मुझमें और बाबू के बीच एक बहुत पतला और महीन-सा धागा है, जो उनकी दुनिया को मुझसे अलग कर देता है – जिस दिन मैं वह धागा तोड़ दूँगा, मैं वहीं हूँगा, जहाँ वह हैं' बिल्कुल निर्दोष और पवित्र जगह में'''बिट्टी, इधर देखो, यह फोटो है, अब तुम उन्हें देख सकती हो'''

"इधर नहीं ''इधर, खिड़की के पास आ जाओ। रोशनी में देखो''' मेरी उम्र कोई सात बरस की होगी। तुम हँसोगी—पर सच बात यह है, मैं दिन-भर रोता रहा। मैंने सोचा, मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुँची है। मेरा यह अन्धविश्वास था कि फोटो खिंचवाते ही मेरे भीतर का फुरना (यह माँ का शब्द था, जिसका मतलब शायद 'आत्मा' से रहा होगा। जब कभी मैं गुस्से में आकर खाना नहीं खाता था, तो वे मुझे डराती थीं कि जब मैं मर जाऊँगा, मेरा फुरना मेरी देह से निकलकर रसोई में चला जायेगा—रात-भर भूखा-प्यासा मँडराता रहेगा)—हाँ, तो मेरा फुरना मुझे छोड़कर फोटो पर चिपक जायेगा—जैसे कोई तितली अल्बम के कागज पर चिपक जाती है, मर जाती है। मुझे डर था कि फोटो में आते ही मैं इस दुनिया से चला जाऊँगा, क्योंकि आदमी एक ही समय में दो जगह मौजूद नहीं रह सकता'''यही कारण है कि मैं इस तरह आतंकित, बदहवास, गमगीन निगाहों से दुनिया को देख रहा हूँ। मेरी माँ कुर्सी पर बैठी है, बाबू पीछे खड़े हैं। मैं आगे हूँ, न पीछे—दोनों से अलग अपना हाथ कुर्सी के हत्थे पर टिकाकर अपनी घातक नियति की तरफ घूर रहा हूँ। मोटे बच्चे यों भी काफी ट्रैजिक दिखायी देते हैं—उन्हीं दिनों का नाम आज भी चला आता है, तुम्हें याद है, जब मैं लायब्रेरी में पिटीशन लेकर आया था, तब'''तुमने सोचा था जैसे मैं कोई'''"

वह नहीं सुन रही थी। वह खोयी आँखों से इन तीन अद्‌भुत प्राणियों को देख रही थी जो तीस साल पहले की फोटो में साँस ले रहे थे--उसकी तरफ घूर रहे थे, जैसे पूछ रहे हों, कौन है यह अजनबी लड़की, जो उनके घर में चली आयी है, खिड़की की रोशनी में उनके अँधेरे को टोह रही है—लाइफ हियर ऐण्ड हियर आफ्टर ! कौन-सी जिन्दगी यहाँवाली या वहाँ—जहाँ वे हैं—जब मैं बत्ती जलाने के लिए उठने लगा, तो उसने मेरा हाथ पकड़कर बिठा दिया···उसे कमरे में धीरे-धीरे अँधेरा आना अच्छा लगता था—जून की पीली तलछट, जो बिस्तर पर बिखर जाती और मैं उसके घुटने पर सिर टिकाकर लेट जाता, सोचने लगता, पता नहीं, वह बाबू और माँ के बारे में क्या सोच रही होगी। जब तुम किसी लड़की को बहुत चाहने लगते हो—तब भीतर की पट्टियाँ खुल जाती हैं—और तुम्हें डर लगा रहता है कि कहीं उसके मुँह से हँसी या हिकारत का शब्द न निकल पड़े। एक उम्र के बाद तुम उन्हें (माँ-बाप को) एक खुले जख्म की तरह भीतर लेकर चलते हो। अगर वे जीवित हों, तो कोई बात नहीं। वे अपने को स्वयं बचा सकते हैं। पर अगर वे नहीं हैं, तब—तब कोई भी हथेली पर उनकी राख फूंक मारकर उड़ा सकता है।

"सुनो···", उसने धीरे से कहा—और तब उसका स्वर सुनकर मेरा दिल धड़कने लगा—मैं उसके स्वर को पहचानता था—जब उसने बहुत कड़वी, बहुत घातक बात कहनी होती थी—उसका स्वर अचानक बहुत कोमल हो जाता था।

"फैटी···," उसने कहा, "मुझे नहीं मालूम था, तुम इतने बदल जाओगे।"

"कैसे ?" मैंने कहा।

"फोटो में तुम बिल्कुल निर्दोष दिखायी देते हो।"

उसने यही शब्द कहा था, निर्दोष—जिसे सुनकर मुझे लगा, जैसे मैं गन्दगी में डूबा हूँ—तीस साल से जमा होते पाप, झूठ और धोखा। मैं हँसने लगा, "इरा—यह फोटो तीस साल पहले की है—मैं तब सात बरस का था।"

"मुझे मालूम है।" उसने कहा।

"तुम्हें कुछ भी नहीं मालूम !" मेरी देह गुस्से और पसीने से थरथरा रही थी। उसने मेरा सिर अपने घुटनों से हटा दिया—अलग कर दिया, जैसे मुझे कोई छूत की बीमारी हो। इच्छा हुई, उठकर कमरे की बत्ती जला दूँ, एक बार उसकी आँखों से दोबारा अपने को देखूँ—बैंक के जिस खाते में हमने अपना प्रेम जमा किया था, क्या उसमें से मैं एक पाई विश्वास नहीं भुना सकता ? लेकिन मैं उठा नहीं। मैं अँधेरे में बैठा रहा। मुझे शक हुआ, वह मुझे देख रही है—ऐसा कई बार होता है, जब अँधेरे में तुम दूसरे को नहीं देख सकते—लेकिन यह पता चल जाता है—कि वह तुम्हें देख रहा है, तौल रहा है, परख रहा है—और तुम कुछ भी नहीं कर सकते, कोई दलील, कोई पैरवी, कोई बचाव तुम्हें नहीं बचा सकता—वह शायद समझ गयी। उसने अँधेरे में हाथ उठाया और मेरा चेहरा टटोलने लगी··· मैंने उसे बीच में ही पकड़ लिया—"सुनो", उसने कहा, "क्या तुम मुझे सचमुच चाहते हो···क्या मैं तुम पर भरोसा कर सकती हूँ ?"

वह इतना हताश, इतना कातर, इतना सम्पूर्ण प्रश्न था कि मैंने जल्दी से उसका हाथ अपने चेहरे से हटा दिया···जैसे अचानक किसी ने मुझे रास्ते में पकड़कर दिन-दहाड़े पूछा हो, "फंटी, क्या तुम ईश्वर में विश्वास करते हो ?" एक पागल-सा विचार आता है—अगर इसका कोई जवाब नहीं है, तो तुम जी नहीं रहे हो—तुम बहुत साल पहले मर गये थे—जब तुम्हारा फोटो खींचा गया था—तुम्हारा कुरता कहीं और है—तुम्हें यह भी नहीं मालूम, तुमने उसे रास्ते में कहाँ गिरा दिया। मैंने अँधेरे में उसे पकड़ लिया—अपने पास घसीट लिया—और हम दोनों बहुत देर उन डरे हुए बच्चों की तरह बैठे रहे, जो रास्ता भूलकर फुटपाथ पर बैठ जाते हैं—प्रतीक्षा करते हैं कि शायद कोई हाथ पकड़कर घर पहुँचा आये।

पर कहीं न था···दुख था। बाँझ दुख, जिसका कोई फल नहीं, जो एक-दूसरे में टकराकर खत्म हो जाता है—और हम उसे नहीं देखते जब तक आधा रिश्ता पानी में नहीं डूब जाता। तब हम घबरा जाते हैं, आतंकित-से होकर पानी को उलीचते हैं—पर फायदा कुछ भी नहीं है—जितना दुख हम बाहर निकालते हैं—उससे कहीं ज्यादा सुराख में भीतर चला आता है। फिर हम बार-बार वहीं लौट आते हैं, मेरा एक कमरा, पिता का

बिस्तर, माँ की खाली कुर्सी—और जून का महीना। वह लायब्रेरी में बैठी रहती और फैटी स्टेटमेण्ट तैयार करता…न्याय और झूठ के बारे में—कोई भी चीज—जो किसी तरह सुराख को बन्द कर सके, बहते पानी को रोक सके।

फिर जुलाई का महीना आया—और मुझे पता चला सुख क्या होता है। कभी दिल्ली का आकाश देखा है—मेरा मतलब है—जुलाई में—टेलिफोन बूथ के शीशे के बाहर, जब बादलों के पीछे एक हल्का और पीला रोशनी का धब्बा दिखायी देता है—नहीं—दिखायी नहीं देता, सिर्फ आभास होता है—कोई चीज चमक रही है। वह सूरज है—सूरज का एक संक्षिप्त धुला हुआ प्रेत। हमारा सुख बिलकुल वैसा था—एक डबडबायी रोशनी का भ्रम, माया और सच के बीच एक भागती हुई छाँह। वह मेरे घर के ऊपर ठहर जाती—और हम अपनी चटाई और चादर बाहर ले आते। थोड़ी-सी बारिश की बूंदें छत की धूल को समेट लेतीं और एक सोंधा, धुँधला-सा धुआँ हवा में उड़ने लगता। हम छत पर अकेले लेटे रहते। मुझे कोई खतरा नहीं था कि कोई हमारे सुख में दखल दे सकेगा—क्योंकि वे बरसों पहले मर गये थे और सब कमरे और आलमारियाँ और मकान की छत मेरे हवाले कर गये थे।

भूख की चिन्ता नहीं थी। वह अपना टिफिन-दान मेरे हीटर पर रख देती—अण्डे की भुजिया, आलू, टोस्ट—और जब कभी उसकी माँ बहुत खुश होती—तो पीले, नमकीन चावल—जिनमें मटर पड़े रहते। मेरे पास सूखी चीजें रहती थीं—डबल रोटी, चीज़ और मछली के डिब्बे—कभी-कभी मैं उसे हैरान कर देता जब मैं उसे जबर्दस्ती बाहर छत पर बिठा देता—आँखों पर रूमाल बाँध देता, ताकि वह भीतर न देख सके—और चीज़ का आमलेट बनाकर उसके सामने रख देता। वह खाने लगती—हैरान होकर मेरी ओर देखती—और मैं उसकी पट्टी उतार देता—ताकि वह मुझे अच्छी तरह देख सके।

"किसने सिखलाया तुमको?" उसने पूछा—जैसे आमलेट बनाना दुनिया का आठवाँ विस्मय हो—"किसी ने नहीं," मैंने कहा, "जब मैं बाहर

था, तो सब कुछ खुद बनाता था।"

"तुम खुद बनाते थे?"

"हाँ···क्यों?" मुझे नहीं मालूम था, इतनी मामूली-सी बात उसे छू डालेगी।

"मैं कुछ भी नहीं बना सकती।" उसने कहा···और अपना सिर मेरे कन्धे के नीचे टिका दिया। उसका सिर मेरे गले के नीचे था—और मैं उसकी सिर्फ प्रोफाइल देख सकता था—आधा माथा, पलकों के बाल और खुले हुए होंठ—जैसे बच्चे कुछ सोचते हुए मुँह खोल देते हैं—"तुम सोचते हो, अगर मैं बाहर जाऊँ तो अपने पर रह सकती हूँ।"

"बाहर कहाँ?"

"कहीं भी···विदेश नहीं—लेकिन अपने घर के बाहर।"

"क्या करोगी?" मैंने धीरे से उसका सिर उठाया—उसकी आँखों को देखा, जो मेरे चेहरे पर टिकी थीं···"क्या अपना घर छोड़ दोगी?"

सहसा उसकी देह सिकुड़ गयी। यह भयानक क्षण होता—जब वह अपने में सिकुड़ जाती—और मुझे कुछ भी पता नहीं चलता था कि वह क्या सोच रही है···जैसे उसकी देह मुझसे सटी हो—पर वह स्वयं मुझे छोड़कर चली गयी हो···उन जानवरों की तरह, जो खतरे की आहट पाते ही अपना रंग बदल लेते हैं। पेड़ या घास या पत्तों के बीच वे भी पेड़ और घास और पत्ते बन जाते हैं, होते हुए भी कहीं दिखायी नहीं देते····"इरा," मैं उसे हिलाने लगता, और वह लौट आती—हैरानी से चारों तरफ देखती, मानो तय नहीं कर पा रही हो, कि वह कहाँ है, अपने घर में या मेरे कमरे की छत पर···

वह कमरे के भीतर जाती—पर बत्ती नहीं जलाती। कमरे में एक महीन रेत-सा उजाला रेंगता रहता—जुलाई की रोशनी—जो तारों से टपकती हुई भीतर तक चली आती। मैं बाहर से उसे देखता—एक स्वप्निल सी सिलहट—उसका सिर दिखायी देता, मुँह में दबे क्लिप, कुर्सी पर किताबों के बीच उसकी जीन, कुर्ता, कन्धे का थैला, थैले में नीली फाइल, जिसके कागज ऊपर निकले रहते। अब लगता है, वह जो जुलाई की एक शाम देखा था वह गलत है, धोखा···क्योंकि जब हम पीछे मुड़कर देखते हैं

तो सब शामें एक स्मृति पर टँग जाती हैं—और हमें भ्रम होता है कि वह जुलाई की एक शाम हुआ था—जबकि उसमें अगस्त और सितम्बर और अक्तूबर की सब घड़ियाँ शामिल हैं—एक प्राचीन फॉसिल की तरह, जो ऊपर से सिर्फ एक पत्थर-सा दिखायी देता है किन्तु जिसमें बीती हुई सदियों की तमाम हड्डियाँ परत-दर-परत जमा होती जाती हैं।

वह बत्ती जला देती और दरवाजे के बाहर झाँकने लगती, "फँटी !"

मैं चुप रहता और छत के अंधेरे कोने में खड़ा रहता।

"फँटी," वह दोबारा बुलाती और कोई उत्तर न पाकर बाहर आ जाती, इधर-उधर देखती और फिर पानी की टंकी के सामने आ खड़ी होती। नल की टूटी खोल देती और अपने कुर्ते की बाँहों को मोड़कर मुँह धोने लगती। मैं देखता, कैसे पानी उसके चेहरे पर बहता हुआ उसकी नाक की टिप पर एक बूंद की चमक में थिर हो जाता है, जैसे वह कोई अटका हुआ आंसू हो···मैं उसके पास आता और वह चौंककर पीछे देखती, मेरे तपते होंठ उसके गीले चेहरे की ठण्डक को सोखने लगते, दुख में कोई डर नहीं होता, किन्तु जिसे हम सुख कहते हैं, वह हमेशा डरों से घिरा आता है। वह जाने की घड़ी होती—और हालाँकि हम दोनों एक शहर में रहते थे, जाने से पहले लगता, जैसे हमें कोई चीथड़ों में फाड़ रहा है, तार-तार कर रहा है। मैं ताला-चाभी ढूंढ़ने लगता और वह खाली टिफिन अपने झोले में डाल देती, जहाँ उसकी थीसिस के नोट्स उघड़े रहते। "फँटी," उसने कहा। "तुम बैठे रहो—मैं चली जाऊँगी। अभी कुछ भी देर नहीं हुई।" "देर ? तुम जानती हो, क्या बजा है ?" मैं एक हाथ में उसका थैला उठाता, और दूसरे हाथ से टार्च जलाकर जीना उतरने लगता—दीवार पर उसकी दुबली, क्षीण-सी छाया मेरा पीछा करती—बीच की मंजिल पर ठिठक जाती—सारा घर खाली। वह एक-एक कमरे को जानती थी। मैंने उसे एक गाइड की तरह सबकुछ दिखाया था—वह कमरा, जहाँ बड़ी बहन शादी से पहले रहती थीं, दायीं तरफ वह कमरा, जहाँ बाबू मरे थे, पीछेवाली खिड़की, जहाँ से आकाश-गंगा दिखायी देती थी···और वह कुर्सी, खाली और फटीचर—एक आर्मचेयर !

वह सीढ़ियों पर खड़ी थी—सफेद और स्तब्ध—बरामदे की रोशनी

मके बालों पर गिर रही थी। वह हमेशा बाहर जाते हुए उस कुर्सी को
या करती थी, जो बीच छज्जे पर पड़ी रहती थी'''तुम्हें याद है? वह
मे स्वर में पूछती, "हाँ", मैं कहता, "मैं यहीं खड़ा था, वे इसी कुर्सी पर
ठी थीं।"

"उनके अन्तिम शब्द क्या थे?"

"कौन-से अन्तिम शब्द?" मैंने उसकी ओर देखा।

"जब तुम जा रहे थे।" उसने कहा।

"मैंने तुम्हें कितनी बार बताया है।" मैंने कहा।

"मैं दोबारा सुनना चाहती हूँ—तुम बाहर जा रहे थे। वह बरामदे में
ठी तुम्हें ताक रही थी"'''उसने कहा—जैसे वह कोई स्वप्न देख रही हो।

"टिकट के बारे में'''" मैंने कहा। "उन्होंने पूछा, मैंने अपना टिकट जेब
रखा है या वॅलेट में'''उन्हें हमेशा यह डर लगा रहता था कि मैं अपना
कट खो दूँगा।"

एक क्षण वह खाली कुर्सी को देखती रही।

"और तुमने उन्हें खो दिया।"

"वे बहुत बूढ़ी थीं'''" मैंने कहा, "उन्हें कुछ भी याद नहीं रहता था।"

"फैंटी"'''उसका स्वर थरथरा-सा गया। "वे अकेले घर में मरी थीं।"

मैंने उसकी ओर देखा—आँखें एक विस्मयकारी आतंक में खुली थीं'''
हीं एक आईना है, लम्बे पेड़ों से घिरी विक्टोरिया स्ट्रीट और बीच में एक
टा-सा पार्क, खेलते हुए बच्चे और ऊपर घूमते हुए बादल, लन्दन का पीला
लोक'''बेंच पर मैं बैठा हूँ, हाथ में एक केबल लिये, एक लाल कागज का
ड़ा, जिस पर पाँच काले शब्द बाहर झाँक रहे हैं, मदर डाइड विदाउट
ी पेन, और मैं शब्दों को बार-बार दोहरा रहा हूँ, विदाउट पेन, विदाउट
ी पेन, उस तिब्बती भिक्षुक की तरह, जो प्रार्थना का पहिया घुमाता
ा एक ऐसे दाने पर पहुँच जाता है—जहाँ कोई सत्य है, कोई ईश्वर,
ई शून्यतम सूनापन—एक विस्मयलोक, वण्डरलैण्ड, जिसके भीतर
लेस ने झाँका होगा, देखा होगा, कोई दरवाजा दूसरी दुनिया को जाता
''

"अकेले में? हाँ, अकेले में," मैंने कहा, "लेकिन बिना किसी कष्ट के,

विदाउट एनी पेन—उन्हें आखिरी वक्त कोई दुख नहीं था, इरा, उनके आखिरी दिन अकेले में बीते, पर सुख में बीते" और तब मुझे लगा, वह रो रही है, थरथर कांप रही है—मैं उसे छूने के लिए आगे बढ़ता और वह मुझे ठेल देती, दीवार से सटकर त्रस्त निगाहों से मुझे देखने लगती—अजीब नफरत में—नफरत भी साधारण नहीं, बल्कि ऐसी, जिसमें—एक ठण्डा, पथरीला, तिरस्कार छिपा रहता, "तुम यहां क्या कर रहे हो फैंटी"···वह धीरे से कहती। "तुम यह घर बेच क्यों नहीं देते···" वह कहती, "यह तुम्हारे पिता का घर है—और तुम इससे जोंक की तरह चिपके हो।" वह धीरे-धीरे उस फोड़े के आसपास नाखून घुमाने लगती, जिसमें टीस का घर था, एक पीली फूली हुई गुठली, जिसे वह निचोड़ने लगती। "जाते क्यों नहीं— इसलिए कि तुम यहां सुरक्षित हो ?" आँसुओं के बीच हँसने लगती —पुचकारने लगती—ओ फैंटी, डियर फैंटी···डियर-डियर फैंटी···अब वह सीधा उसकी सुई तले होता, एक अधमरा जीव—जिसका धड़ कुचल जाता है, किन्तु पूंछ दीवार पर अपने को पटकती रहती है। उसकी पीड़ा दुबककर किसी कोने में भाग जाती—आलमारी में रखे बाबू के दांत, माँ की नथ—वह उनके पीछे छिप जाता, पोएट्री की किताबें, स्टेटमेण्ट, रिकार्ड—अपने को बचाने के लिए उसने कितनी चीजें जमा कर रखी थीं—किन्तु वह उसे लकड़ी से बाहर निकालती—जैसे हम छिपकली, किसी छछूंदर को अंधेरे, सुरक्षित कोने से बाहर निकालते हैं—दुनिया के क्रूर उजाले में···दीवार के एक कोने से दूसरे कोने में भागते हुए, तिलमिलाते हुए, हांफते हुए—

वह बाहर आ गयी—बाहर—जहां जुलाई का अंधेरा दिल्ली की छतों पर अटका था। वह स्कूटर लेती और उसके घर से दूर भागने लगती—कनॉट प्लेस, इण्डिया गेट, पुराना किला—सब एक-एक करके गुजर जाते। ऊपर सिर्फ बादल होते—और छितरे हुए तारे—जो जुलाई की रातों में धुले हुए बटनों-से चमकते थे। न कोई पुल, न रेलगाड़ी—जिसके नीचे मैं कोई इच्छा मांग सकती।

उसने चाभी बाहर निकाली, गेट का ताला खोला और भीतर चली आयी। छोटा-सा लॉन, नींबू के पेड़ और ईंटों की दीवार—यह उसका घर

था। वह कुछ देर अँधेरे में खड़ी रही—खिड़कियाँ खुली थीं—पापा टेलिविज़न देख रहे होंगे—माँ कपड़ों पर इस्त्री कर रही होंगी। वे जान लेते थे, वह आ गयी है—पर उसके कमरे में आने का साहस नहीं बटोर पाते थे—वह रसोई में जाकर टिफिनदान रखती, मुँह धोती—और भागकर अपने कमरे में आ जाती। जल्दी में कोई रेकार्ड लगाती और बिना कपड़े बदले बिस्तर पर पसर जाती—बीच में समय बीतने लगता—अगस्त के खुले दिन और सितम्बर का उदास आलोक—झाड़ियाँ और घास और पेड़ अपना रंग बदलने लगते—वह अपनी थकी आँखों को तकिये पर भींच लेती—

वह हॉल कमरे में आती—बिल्कुल दबे कदमों से - ऊपर पापा और माँ सो रहे होते—वह बत्ती भी नहीं जलाती, उसे फोन के सब नम्बर मालूम थे और अँधेरे में वह डायल घुमाती—और दूसरी तरफ घण्टी सुनायी देती, वह गूँज रहा होगा, खाली घर के सन्नाटे में फोन की आवाज चीख रही होगी···"हलो, हलो" फँटी का स्वर उसे चौंका देता—वह सुन्न-सी खड़ी रहती···"हलो, हलो, हलो"—और तब सन्नाटा हो जाता, वह रिसीवर रख देती—और वह फोन पर धीरे से कहती, "फँटी, यह मैं हूँ, मैं सिर्फ तुम्हारी आवाज सुनना चाहती थी···"

वह नवम्बर का महीना था—और उसकी आवाज को दिल्ली की हवा पकड़ लेती और सड़क पर उड़ने लगती। चलते हुए लोग क्षण-भर के लिए ठिठक जाते—कौन है यह फँटी—वे सोचने लगते—किन्तु शहर की हवा में इतने नाम, इतनी साँसें, इतने आँसू, तिरते रहते—कि यह अनुमान लगाना असम्भव हो जाता कि किसका नाम किसने पुकारा है—और वे सिर हिलाकर आगे बढ़ जाते, भूल जाते, भीड़ में खो जाते।

लेकिन वह कभी नहीं भूल पाती—'यह मेरा भेद है'—वह सोचती, 'मेरा सबसे बड़ा भेद, रहस्य—फँटी—मुझे देखो और तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम सबसे पाखण्डी, झूठी,—हिप्पोक्रेट—दुनिया की सबसे बड़ी हिप्पोक्रेट लड़की को देख रहे हो—तुम हँस रहे हो? लेकिन ठहरो—मैं तुम्हें कुछ दिखाना चाहती हूँ। यह मेरी पोटली है—हँसो नहीं—खोलो, खोलकर देखो—नहीं, ये थीसिस के नोट्स नहीं—इन्हें अलग रहने दो—ये पोएट्री की पतली, पेंगुइन किताबें नहीं' पैस्तेर्नाक, अन्ना अख्मातोवा, नेरूदा। नहीं,

ये नहीं, ये कागज, ये नोट्स, ये सॉनेट्स नहीं...फिर, फिर क्या ?

'सुनो—तुम्हारे घर से जब मैं अपने घर लौटती हूँ, तो बहुत देर तक मैं नीचे लॉन में खड़ी रहती हूँ—अंधेरे में ऊपर देखती हूँ—पीली ईंटों की दीवार, हरी खिड़कियां, खिड़कियों पर झूलती लताएँ—पूरा एक बंगला, एक मकान—जानते हो, वे इसे मेरे लिये छोड़ जायेंगे...मैं खुली आंखों से इन खिड़कियों, हवा में फरफराते परदों को देखती हूँ—वे अब डाइनिंग रूम में बैठे होंगे। वे तब तक खाली प्लेटों के आगे बैठे रहते हैं, जब तक मैं नहीं आ जाती, अपनी इकलौती बेटी की प्रतीक्षा में, आधे जागते हुए, आधे सोते हुए—फैटी, जैसे तुम अपने मां-बाप के बारे में सोचते हो, वे मेरे बारे में सोचते हैं...एक दिन जब वे नहीं रहेंगे, मैं उनकी वसीयत से बाहर आऊँगी—एक सांप की तरह—जो समूची जायदाद, घर-कोठी, गहने-जेवर पर फन फैलाता है और उन्हें अपने भीतर डस लेता है—एक कीड़ा—जो जिन्दगी-भर उनके खून से चिपका रहता है—और उनके मरने पर कोनों में जाकर उनकी हड्डियों को कुतरता है, जब तक वे बिल्कुल साफ नहीं हो जातीं—जिन पर खून और मांस का निशान भी नहीं दिखायी देता—इन पर बैठकर एक दिन मैं उन लोगों में मिल जाऊँगी, जो हर जगह हैं—तुमने उन्हें देखा नहीं— नैनीताल और मसूरी की सड़कों पर घोड़ों पर दौड़ते हुए—? दोपहर के समय अपनी ऊबी आंखों से समय कुतरते हुए...वे अलग-अलग वेशों में आते हैं—दिल्ली की सड़कों पर—गरीबों की चर्चा करते हुए—वे वल्गर नहीं हैं—वे बोल रहे हैं, लिख रहे हैं, पेण्ट कर रहे हैं। मैं उनमें हूँ, मैं अलग नहीं हूँ, वे कितनी साफ, कितनी निर्दोष, कितनी चमकदार हड्डियों पर बैठे हैं...फैटी, मैं उनमें हूँ, उनसे अलग नहीं हूँ, मैं सब देखती हूँ, बाग के उजले नीले अंधेरे में, और मैं भागने लगती हूँ, फैटी, मैं चीखती हूँ, मैं भागते हुए गेट के पास आती हूँ—पर गेट का ताला बन्द है—और तुम बाहर सड़क पर हो—अपने घर लौट रहे हो...मैं अंधेरे में तुम्हें देखती हूँ और तब मुझे वह दोपहर याद आती है, जब तुम लायब्रेरी में आये थे...तुम एक स्टेटमैण्ट लाये थे—मैं तुम्हें अकसर दिल्ली की सड़कों पर देखा करती थी, पेड़ों के नीचे, घास के स्क्वायर में—उस कंसर्ट में—जिसमें येहूदी मेनुहिन पहली बार हिन्दुस्तान आये थे...मैं तुम्हें देखा करती थी और सोचती थी,

नहीं, सोचती कुछ नहीं थी—हैरान-सी होती थी—कैसे कुछ लोग दूसरों की मुक्ति के लिए घूमते हैं—वे असाधारण लोग होते होंगे, परमहंस, मदर टेरेसा, मार्टिन लूथर किंग···वे अपना हाथ कन्धे पर रखते होंगे—और सब कुछ बदल जाता होगा—मैंने तुम्हें जब उस दिन लायब्रेरी में देखा—मैंने सोचा—मैं तुम्हारे कागज पर नाम लिखूँगी—और हमेशा के लिए छुटकारा पा जाऊँगी फिर मैंने तुम्हें देखा—और सहसा ध्यान आया। मैं तुमसे ज्यादा भाग्यवान हूँ···मैं अपना घर कभी भी छोड़ सकती हूँ, दिल्ली के बाहर जा सकती हूँ। दूसरी तरफ से देखो—तो तुम मुझसे कहीं ज्यादा भाग्यवान हो—तुम्हारे अपने विजन हैं, जरा-सा स्विच दबाओ—और वे चमकने लगते हैं, रोशनी के दायरे, जिन्हें तुम किसी भी समय बाहर निकाल सकते हो, कमरे में सजाते हो—पूरा एक म्यूजियम—जो कर्जन रोड से लन्दन की विक्टोरिया स्ट्रीट तक फैला है—नहीं, तुम सचमुच मुझसे कहीं-रहीं ज्यादा भाग्यवान हो, तुम एक दिन अपने घर के कोने में 'उन दिनों' की पोटली भी रख लोगे, जो मैंने तुम्हारे साथ बिताये थे।'

वह यह पोटली अपने साथ लायी है—जाने से पहले—वह उसे सुपुर्द कर देना चाहती है।—इसमें मार्च के पत्ते जमा हैं और जुलाई की रातें, गुलमोहर के फूल जो मई के शुरू में कनॉट प्लेस में दहकते थे और किताबों की दुकानें और टेलिफोन बूथ,···मिण्टो रोड का ब्रिज—जिसके नीचे उन्होंने एक दोपहर एक दूसरे से मुक्ति पाने की प्रार्थना की थी···

क्या कोई ऐसी पीड़ा है, जो इस शहर के कोने से उखड़कर बाहर नहीं आती ?

वह लायब्रेरी से बाहर आयी—और दरवाजे पर फैंटी दिखायी दिया। वह जल्दी से उसके पास आया—और उसका मन बैठने लगा···"तुम कब आये ?" उसने बहुत क्षीण स्वर में पूछा—"मैं कब से खड़ा हूँ"—उसने कहा—"तुम लिख रही थी—मैं बाहर से तुम्हें देख रहा था।" "मैं तुम्हें लिख रही थी—" उसने कहा और वह धीरे से हँसने लगा—"मुझे लिख रही थी ? दिखाओ !" "अभी नहीं।" उसने अपना सिर उसकी छाती में दुबका लिया—इससे उसको बहुत शान्ति मिलती थी—जैसे दिन-भर की थकी-माँदी चिड़िया अपने घोंसले में दुबक जाती है—"क्या लिख रही थी ?"

उसने उसके वालों पर अपना मुंह रख दिया—"एक भेद"—उसने कहा—"एक रहस्य"—उसने कहा—"एक मिस्ट्री", "तुमने मुझे इसीलिए बुलाया था ?" उसने उसका चेहरा उठाया—और तब वह हतप्रभ-सा हो गया—उसकी आंखें चमक रही थीं, जैसे वह रोकर उठी हो, बुखार में हो, नींद में चल रही हो। "इरा !" उसने कहा—"हिश"—उसने उसके मुंह पर अपना हाथ रख दिया—"चलो", उसने कहा, "वे हमें देख रहे हैं।"

वे बाहर चले आये। कर्जन रोड की बत्तियां जनवरी की धुन्ध में जुगनुओं-सी टिमटिमा रही थीं। फैंटी ने उसका थैला अपने कन्धे पर लटका लिया। वह ध्यान से उसे देखने लगी— जैसे पहली बार उसे देखा था—छोटे पैरों में पेशावरी चप्पल, काली कार्डरॉय की पैण्ट, लम्बा ढीला ब्राउन स्वेटर, जो हमेशा नीचे से फट जाता था और वह उसे काले धागे से सी देती थी···

"स्कूटर लोगी ?" उसने पूछा।

"नहीं, पैदल चलेंगे···मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूं···"

"इरा—क्या बात है ?" वह बीच सड़क पर ठिठक गया—वह चलती गयी—सिर पर बंधा एक स्कार्फ,—सलेटी रंग का कुरता, माथे पर काली बिन्दी—वह अपने भीतर की धड़कनों को समेट लेती है, जैसे कोई तैराक कूदने से पहले अपनी समूची देह को बटोर लेता है—यह क्षण है, उसने सोचा—यह मौका है, मैं अभी नहीं कूदी, तो जिन्दगी-भर किनारे पर खड़ी रहूंगी···"फैंटी," उसने एक कदम आगे बढ़ाया, फिर दूसरा, फिर उसका स्वेटर पकड़ लिया—वह आगे बढ़ी और आंखें मूंद लीं, अब वह हवा में थी। अब वह कूद रही थी—"मैं दिल्ली छोड़ रही हूं," उसने कहा।

वह शान्त थी। सबकुछ शान्त था। वह जनवरी की शाम थी और वे चुपचाप चलते हुए इण्डिया गेट के सामने खड़े हो गये थे—"कब ?" उसने पूछा, "कहां जाओगी ?" वह खड़ी हो गयी···धुन्ध के बीच एक लौ जल रही थी—किसी अज्ञात सैनिक की याद में, जो पहली लड़ाई में मरा था। "मैंने अभी कुछ नहीं सोचा," उसने कहा, "हिन्दुस्तान बहुत बड़ा है—" और वह धीरे से हँसने लगी—उसका हाथ पकड़ लिया—"फैंटी", उसने कहा—"मैं कहीं भी जा सकती हूं।"

"घर छोड़ दोगी ?"

एक क्षण वह सूनी सड़क पर ठिठक गयी—याद आया—इस घड़ी माँ अपने कमरे में इस्त्री कर रही होगी, खाने की मेज पर तीन प्लेटें होंगी—पापा टेलिविजन देख रहे होंगे—मैं इन्हें छोड़ रही हूँ—घर नहीं, उनका पैसा नहीं, मैं कहीं भी हूँ, भूखी नहीं मरूँगी···मैं सेफ हूँ, सेफ, सेफटी फर्स्ट··· एक घोर असीम हताशा में उसने इण्डिया गेट को देखा—हल्की चाँदनी में वह रेत का एक ढूह जान पड़ता था—चारों तरफ लम्बी घास, हवा में हिलते पेड़···"फैंटी" उसने कहा, "मेरी एक बात मानोगे ?"

"क्या इरा ?" उसने बहुत धीमे स्वर में कहा। वह रुक गयी।

"तुम कभी अपना घर नहीं छोड़ोगे ?"

"लेकिन उस दिन···" उसने विस्मय से उसकी ओर देखा, "तुम मुझे बाहर आने को कह रही थी।"

"बाहर ?"

"बाहर—दुनिया में।"

"मुझे मालूम है," उसने सिर हिलाया, फैंटी के माथे पर बिखरे बालों को ऊपर उठा दिया, "तब मैं नहीं जानती थी कि वे तुममें रहते हैं···वे घर में हैं।"

"वे कौन ?" फैंटी ने हिचकते हुए कहा, "इरा, वे कब के मर गये।"

"मर गये।" वह धीरे से हँसने लगी···बरामदे में रखी कुर्सी, बिस्तर के पीछे आकाश, खिड़की में···"वे वहाँ हैं, वे हमेशा वहाँ रहेंगे···फैंटी, मुझे देखो" और उसने अपना चेहरा ऊपर उठाया—एक साँस ऊपर आयी—उसने झटके से उसे अपने पास खींच लिया—पीली चाँदनी में उसकी आँखें ऊपर उठीं और उसने कहा, "क्या मैं जीवित हूँ ?"

धुन्ध ऊपर उठी और पेड़ सरसराने लगे। रात की हवा में सबकुछ असम्भव जान पड़ा, जीना, मरना, घर छोड़ना···"फैंटी" उसने कहा, "तुम्हारे फादर का एक रजिस्टर था। वह कुछ लिखना चाहते थे···तुम्हें याद है ?"

फैंटी ने ऊपर देखा—धुन्ध के परे तारे छिटक आये थे···एक महीन-सा आलोक पेड़ों की फुनगियों पर बिखरा था···"लाइफ हियर—लाइफ

हियर आफ्टर! लेकिन क्या दोनों एक साथ एक ही दुनिया में नहीं हैं, जिन्दगी यहां और वहां, वे हमारे साथ जी रहे हैं, हम उनके मरने में शामिल हैं?"

वे उसके घर के सामने खड़े थे। फाटक खुला था—दोनों तरफ यूक्लिप्टस के पेड़—बीच में बजरी की सड़क—एक नींबू की झाड़ी। "फैटी, तुम्हें याद है? क्या विट्टी?" कभी-कभी वह उसे बहुत प्यार में विट्टी कहा करता था—एक निस्सहाय-सी बच्ची, जो उसका हाथ पकड़कर दिल्ली की सड़कें लांघा करती थी। "क्या याद है?" उसने पूछा—और तब देखा इरा फाटक का पल्ला पकड़कर कहीं भीतर अंधेरे में झांक रही है—

"एक बार और कहो—" उसने कहा।

"क्या?"

"जो अभी कहा था।"

"विट्टी!"

उसने उसकी ओर देखा—आंखें उसके चेहरे को ढूंढ़ने लगीं—"हम पिछली जनवरी में मिले थे—मैंने तुम्हें फोन किया था। तुम गिनती गिन रहे थे। पूरे बारह महीने···"

लॉन की भीगी, धूमिल रोशनी में वह उसका चेहरा देखता रहा।

"तुम आज क्या लिख रही थीं?" उसने पूछा।

"लायब्रेरी में?" उसने फैटी के दोनों हाथों को अपने गालों में थमा लिया—जैसे माचिस की लौ को बचाने के लिए हम उसे हाथ से ढक लेते हैं—और वह हवा में कांपती रहती है—बुझने और जलने के बीच हिचकिचाती हुई···"एक स्टेटमैण्ट," उसने कहा, "एक प्रार्थनापत्र, फैटी, मैं अपने को लिख रही थी, फिर मुझे अचानक पता चला कि जब कोई पाप का कनफैशन करता है, तो अपने लिए नहीं, ईश्वर के लिए भी होता है···और मुझे लगा, तुम भी उसमें हो, जैसे एक बरस पहले जिस स्टेटमैण्ट पर मैंने अपना नाम लिखा था—जानते हो मेरे नाम के ऊपर किसका नाम था?"

"किसका विट्टी?"

"यातना का—" उसने धीरे से कहा—"जब तुम बाहर जाने लगे, तो

मैंने सोचा मैं तुमसे, फिर मिलूँगी···"

अँधेरे में चाभियों की खनखनाहट हुई—और वे दोनों अलग हो गये। लालटेन की रोशनी में चौकीदार का चेहरा दिखायी दिया। "बीबीजी, गेट बन्द करना होगा।" उसने कहा। और स्नेहपूर्ण नजर से फँटी को देखा—वह इन दोनों को अर्से से देखता आया है।

फँटी ने उसका थैला कन्धे से उतारा—थैला—जिसमें हमेशा थीसिस की फाइलें, किताबें—और सबसे नीचे—कटोरदान दबा रहता था।

"तुम आओगे ?" उसने चौकीदार से अपनी आवाज छिपाते हुए कहा, "मैं तुम्हें देखूंगी।"

गेट बन्द हुआ तो भी वह खड़ा रहा—बजरी की सड़क पर उसकी चप्पलों की चरमराहट सुनता रहा। फिर वह भागने लगा—बंगले के अहाते के बाहर एक छोटी लेन थी—वहाँ से उसका कमरा दिखायी देता था, टैरेस पर एक रोशनी का द्वीप—घर लौटने से पहले वह हमेशा उसे देखा करता था।

बहुत बरसों बाद वह मकान खाली हो गया। अब वहाँ कोई और लोग रहते हैं—किन्तु फँटी जब भी वहाँ से निकलता, एक क्षण के लिए अँधेरी लेन पर खड़ा हो जाता···जैसे मुद्दत पहले खड़ा हो जाता था। वही हवा में झूमते यूकिलप्टस के पेड़, नीबू की झाड़ी, लॉन के ऊपर उसका कमरा···वह प्रतीक्षा करता, अब वह आयी होगी, कमरे की बत्ती जलायी होगी, कोई रेकार्ड लगाकर बिस्तर पर लेट गयी होगी—एक अलौकिक-सी आवाज ईंटों की दीवार से, काँच के टुकड़ों पर फिसलती, छिलती हुई उसके पास आती थी, उससे लिपट जाती थी, धीरे से फुसफुसाती थी, "फँटी, मैं यहाँ हूँ—यहाँ—मैं यहाँ हूँ।"

सुबह की सैर

वे छड़ी उठाते हैं, सीढ़ियाँ दायें पैर से उतरना शुरू करते हैं; उनका यह विश्वास है कि दिन दायें पैर पर उठाया जाये, तो वे किसी विपत्ति में नहीं गिर सकते। वे सुबह उठते भी दायीं करवट से हैं और जब उनकी बायीं आँख फड़कती है, तो उन्हें अपने लड़के का खयाल आता है, जो बरसों से विदेश में पड़ा है।

छड़ी घुमाते हुए वे नाले की तरफ चलने लगते हैं। वहाँ अब नाला नहीं है। तीन बरस पहले कमेटी ने उसे पाट दिया था, लेकिन आस-पड़ोस के लोग अब भी उनके घर को 'नालेवाला मकान' कहते हैं। पुराने दोस्तों की चिट्ठियाँ अब भी इस पते पर आती हैं: कर्नल निहालचन्द्र, नालेवाला मकान; और डाकिया भी उन चिट्ठियों को सीधा उनके घर ले आता है।

वे चलते जाते हैं। नाले के परे एक छोटी-सी पुलिया है, सफेद चूने में चमचमाती हुई। यहाँ आकर वे ठहर जाते हैं—यह उनकी सुबह की सैर का पहला स्टेशन है। वे अपनी छडी को पुलिया के सहारे टिका देते हैं, थैले को कन्धे से उतारकर मूठ पर लटका देते हैं, सीधे खड़े हो जाते हैं, लगभग अटेंशन की मुद्रा में। एक साँस खींचते हैं, भीतर ले जाते हैं, फिर एक गाँठ में कसकर बाहर फेंक देते हैं। फिर दूसरी साँस खींचते हैं, वही कसावट, वही गाँठ, वही ढील। फिर तीसरी साँस···इसमें उन्हें कोई आराम मिलता है? किसी को नहीं मालूम। वे अपने से पूछते नहीं और कोई दूसरा उनसे पूछनेवाला नहीं।

उन्हें यह भी चिन्ता नहीं कि पुलिया के नीचे स्कूल जानेवाले लड़के

उन्हें देखकर हैरत में खड़े हो जाते हैं—एक पतली सींक-सा लम्बा आदमी, हवा में साँस खींचता हुआ, बाँस-सा हिलता हुआ।

"कर्नल सा'ब, कर्नल सा'ब"

कहाँ है आपकी बन्दूक-तलवार?"

हँसते, चीखते, डरते हुए वे भागते जाते हैं। बारिश के पानी में उनके पैर छप-छप करते हैं और हवा में घास सरसराती रहती है।

उस दिन निहालचन्द के कानों में देर तक बच्चों की आवाजें गूँजती रहीं। फिर सब कुछ शान्त हो गया। उन्होंने आखिरी साँस खींची, जो एक भीनी-सी उच्छ्वास बनकर बाहर निकल आयी। पुलिया से अपनी छड़ी उठायी और रूमाल से उसकी मूठ साफ करने लगे। उसी रूमाल में अपनी नाक सिनकी और आँखें पोंछी। फिर थैला उठाकर कन्धे पर लटका दिया। गले में सूखी-सी किरक चुभने लगी। धुंधला-सा खयाल आया, शायद कहीं भीतर कोई तकलीफ है, लेकिन इतनी जुर्रत नहीं हुई कि इस तकलीफ को 'प्यास' का नाम दे सकें। वे तकलीफों की धुन्ध में रहते थे, नाम देने का मतलब था, पिण्डारे की पिटारी खोलना, जिसके भीतर से पता नहीं कितनी दूसरी तकलीफें बाहर निकल पड़ेंगी। ना भाई, इससे बेहतर यह धुन्ध है, जहाँ सब कुछ एक जैसा है।

निहालचन्द पुलिया पार करने लगे।

नीचे, आगे, पीछे चारों तरफ मैदान फैला है। पूरा मैदान भी नहीं; आधा हिस्सा धोबीघाट है, बाकी हिस्सा पेड़ों से ढक गया है। वह नाला जिसे शहर में ढक दिया गया था, अब यहाँ बेशर्मी से नंग-धड़ंग बहता है। किनारे पर चौड़े, सपाट पत्थर बिखरे हैं, जो आँखों में शूल-से चुभते हैं। निहालचन्द ने थैले से धूप का चश्मा निकाला, पहनकर चारों तरफ देखा, तो ठण्डा-सा अँधेरा दिखायी दिया, रात का ठहरा हुआ अँधेरा जैसा नहीं, बल्कि काली रोशनी का दरिया, वे धीरे-धीरे उसमें उतरते हैं और पत्थरों से बच-बचकर चलने लगते हैं।

कहाँ जा रहे हैं कर्नल बाबू?

पत्थरों पर कपड़े पीटती हुई धोबिनों की आँखें ऊपर उठती हैं; हाथ हवा में ठिठक जाते हैं; धोबियों के कुत्ते-घर के न घाट के—कर्नल निहाल-

चन्द्र की एकनिष्ठ, नीरव, मन्द चाल को देखकर कुछ ज्यादा ही भभक जाते हैं, दाँत निपोरते, खँखारते हुए उनके पीछे भागते हैं, किन्तु उनके पास आने की हिम्मत नहीं करते; उनकी मीटरभर लम्बी छडी को देखकर बीच में मीटर-भर का फासला छोड़ना नहीं भूलते। और निहालचन्द्र ? उनके लिए जैसे चिंघाड़ते बच्चे, वैसे रिरियाते कुत्ते, सब एक चलते हुए दृश्य का हिस्सा हैं, एक धुएँ-सी ध्वनि, जिसमें सबकुछ समा जाता है···

यह नजारा अगर टूटता है, तो सिर्फ एक जगह—जहाँ जंगल शुरू होता है। वहाँ कोई आवाज नहीं, न कोई रंग, न रोशनी···सिर्फ पेड़ों की लम्बी कतार के नीचे धूप के धब्बे टिमटिमाते हैं। यहाँ काले चश्मे की कोई जरूरत नहीं। निहालचन्द्र एक कन्धे से थैला उठाकर दूसरे कन्धे पर लटका लेते हैं। कोट के बटन खोलते हैं, तो नवम्बर की हवा सर्र-सर्र करती देह को खटखटाने लगती है। ऊपर पेड़, नीचे झाड़ियाँ, बीच-बीच में गुलमोहर की सुर्ख, लहराती लपटें, सुर्र-सुर्र-सी आवाजें, जिन्हें सुनकर निहालचन्द्र को ग्वालियर के जंगल याद आ जाते, जहाँ वे अपने फौजी दोस्तों के साथ शिकारपर जाते थे। वे अब उसे याद भी नहीं करते थे। खट-से कोई स्लाइड पर्दे पर चमक जाती थी···पुरानी जिन्दगी का एक हिस्सा साँस लेने ऊपर आता था—फिर छप से अँधेरे में डूब जाता—और निहालचन्द्र तेजी से कदम बढ़ाते हुए जंगल में गुम हो जाते।

कुछ देर तक पता भी नहीं चलता था, वह कहाँ हैं, किधर गायब हो गये ? सिर्फ झाड़ियों में हल्की-सी सरसराहट सुनायी देती—जैसे कोई जानवर भागा जा रहा हो—और तब अचानक उनका सिर दिखायी देता। अभी यहाँ, अभी वहाँ ! कोई छिपकर उन्हें दिखता, तो हैरत में पड़ जाता कि इतनी उम्र में भी वे इतनी तेजी से भाग सकते हैं, छड़ी और थैले के साथ। किन्तु निहालचन्द्र के लिए यह मामूली-सी कसरत होती। महज कसरत नहीं—एक तरह का ध्यान। उनका चेहरा एक अलौकिक-सी तल्लीनता में डबा रहता। एक अजीब-सा भ्रम होता, मानो वे एक जगह स्थिर हों, सिर्फ उनकी लम्बी, सींकियाँ टाँगें भागी जा रही हों, फिर धीरे-धीरे उनकी टाँगें भी स्थिर हो जातीं, सिर्फ बूढ़ा दिल हड्डियों के सींकचे पर टकराता रहता और···वे रुक जाते, अधमुंदी पलकोंको खोल देते, चारों

तरफ देखने लगते।

सामने हवामहल दिखायी देता, पीले पत्थरों का मुगलिया मानूमेण्ट। नवम्बर की मन्द धूप में सुलगता हुआ

निहालचन्द्र के सफेद बालों में पसीने का परनाला बहता हुआ उनकी कनपटियों पर चूने लगता। वे सिर को झटका देते, रूमाल से माथा पोंछते, छड़ी और थैले को हवामहल की सीढ़ियों पर टिका देते। साँस लेते। सैर की थकान उनकी देह से टूटकर टूटे हुए खँडहर में जुड़ जाती।

यह उनकी सैर का दूसरा स्टेशन होता।

यह हवाघर बहुत पहले शायद सचमुच कोई 'स्टेशन' रहा हो, एक पड़ाव, जहाँ मुगल सेनाएँ दिल्ली से मार्च करतीं, यहाँ घड़ी-दो-घड़ी डेरा डालती होंगी। स्वयं शाहंशाह शायद यहाँ छुट्टी के दिन पिकनिक के लिए आते हों। वरना इस उजाड़ जंगल में इतने नखरे-नक्काशीवाली इमारत ही क्यों बनाते? निहालचन्द्र को यह छिपा खजाना अचानक ही मिल गया था—एक दिन सैर करते-करते यहाँ आ भटके और आँख उठाते ही हवा से हवाघर उतर आया। सफेद सीढ़ियाँ, झालरदार झरोखे, बड़ी-बड़ी आँखों-से रोशनदान—किन्तु जो चीज निहालचन्द्र को हमेशा अचम्भे में डाल देती थी, वह था नीला गुम्बद, भूरे पीले जंगल में वह नीलापन उनकी आँखों को अजीब-सी राहत देता था—एक ठण्डे, स्वच्छ हीरे-सा झिलमिलाता हुआ।

उस दिन भी निहालचन्द्र गुम्बद को निहारते रहे। फिर एक लम्बी साँस खींची, जो 'आह' और 'हे ईश्वर' के बीच जैसी कराहट में बुझ गयी। फिर थैले से एक खाकी रंग की बरसाती निकाली और हवाघर की सीढ़ियों तले करीने से बिछा दी। यह उनकी प्रिय जगह थी···झरोखों से आती हवा में डोलता गुम्बद, नवम्बर की धूप—और क्या चाहिए?

कुछ भी नहीं। सारी हलचल बन्द। न कोई आवाज, न शोर, न किसी तरह की हलचल। एक तिनका भी हिलता तो उसकी गूँज निहालचन्द्र की नसों को खटखटा जाती। कभी-कभी किसी जंगली परिन्दे की चीत्कार हवा में थरथरा जाती जैसे वह अपनी भूखी चीख से निहालचन्द्र की दबी भूख को कुरेद रहा हो। उसकी चीख सुनकर निहालचन्द्र को अपना सब

याद हो आया और उनका हाथ अनायास अपनी पोटली की तरफ मुड़ गया।

उबला हुआ अण्डा, टमाटर और खीरे की सैण्डविचेज, थर्मस में कॉफ़ी —देवीसिंह हर चीज बड़े करीने से रखता था, मानो वह सुबह की सैर के लिए नहीं, जिन्दगी के सफर पर निकल रहे हों। उस पहाड़ी छोकरे को सब कुछ याद रहता था, यहाँ तक कि वह नमक और काली मिर्च की पुड़िया भी रखना नहीं भूलता था। थैले के दूसरे कोने में ट्रांजिस्टर भी दुबका होता था, जिसे मुन्नू विदेश से उनके लिए लाया था—जर्मन ट्रांजिस्टर—उनकी हिन्दुस्तानी ऊब और शून्यता को भरने के लिए। वे उसे शायद ही कभी खोलते। कई बार इच्छा हुई थी कि उसे देवीसिंह को दे दें—वह भी तो दिन-भर सांय-सांय करते मकान में ऊँघा करता है, घड़ी-दो घड़ी इस खिलौने से ही खेल लिया करेगा। किन्तु फिर वे अपनी इच्छा दबा डालते; गूँगे ट्रांजिस्टर से बेटे की आवाज सुनायी देती, "आप दिन-भर खाली बैठे रहते हैं, जरा इसे ही सुना कीजियेगा।" और तब उन्हें अजीब-सा सन्नाटा घेर लेता, दम-तोड़ती जम्हाई खींचते हुए वह बुड़बुड़ाने लगते, "खाली कहाँ प्रभु, मुझे एक मिनट की फ़ुरसत नहीं।"

पता नहीं, यह बात वे अपने बेटे से कहते, जो विदेश में था, या अपनी पत्नी से, जो परलोक में थी या सचमुच प्रभु से, जो कहीं न था। उन्हें शायद खुद भी पता नहीं होता था, कि वे अपने से क्या कहते हैं, हवा में जहाँ इतनी आवाजें बहती हैं, वहाँ उन्हें अपनी बातें भी उड़ती जान पड़ती थीं—कोई उनसे पूछता, आपको एक मिनट की फ़ुरसत नहीं, आखिर आप करते क्या हैं? तो वह झट कह देते, देखते नहीं, खाना खा रहा हूँ। और यह सच भी होता—खाना, देखना, चलना, सोना···जीने के साथ-साथ ये काम एक ··· में चलते थे—और निहालचन्द्र इस बीच अपने से बातें भी करते थे और अपने को ही सुनते थे।

सुनना। वह सोते हुए भी होता था। खाने के बाद आँखें मुँदने लगतीं। निहालचन्द्र डबलरोटी के कण्डल और अण्डे के छिलके अखबार में बटोरकर अलग रख देते, थैले की गुड़मुड़ी बनाकर, बरसाती के सिरहाने टिका देते, पैर पसारकर लेट जाते— किन्तु इससे पहले कि नींद आती, परिन्दों का रेला

उनकी जूठन पर टूट पड़ना। सट, सट, सट --निहालचन्द्र को लगता जैसे उनकी चोचें अखबार पर नहीं, उनकी नींद में सुराख भेद रही हों। चिड़ियों के पीछे चीलें आतीं और उन्हें खदेड़कर बचे-खुचे टुकड़ों को दबोचकर गायब हो जातीं। हवा में उनकी डाक्ट और उठाईगीरी उड़ान से बीच छपाक-सी आवाज होती —जैसे नींद के बीचोंबीच किसी ने छलांग लगायी हो—सिमटते हुए सपने तितर-बितर हो जाते। बादलों की सरकती छाया में नीला गुम्बद कुछ टेढ़ा-सा हो जाता और निहालचन्द्र को लगता जैसे वे सबकुछ एक झीने पर्दे के पीछे से देख रहे हों, एक लेटा हुआ आदमी, सिरहाने पर दबा थैला, हवा में फड़फड़ाती बरसाती - और तब उनका दिल तेजी से धड़कने लगता। वे प्रतीक्षा करने लगते।

वह ऐसे ही आ जाती थी। वह आकर कुछ दूर फासले पर ठिठक जाती थी। गले में झूमती रस्सी, बेचैन-से टटोलते हाथ, झरोखों के भीतर झांकती आँखें—उस आदमी पर टिकी हुई, जो सीढ़ियों के नीचे खुद एक सीढ़ी-सा लेटा था।

"निहाली रे, ओ निहाली!
तेरी सारी जेबें खाली
हाय निहाली
क्या सचमुच खाली?"

निहालचन्द्र लेटे रहते, आवाज को अपनी गति से पास आने देते, न हिलते, न डुलते, दम साधकर दिल को दाबे रखते; उन्हें अन्देशा होता, जरा-सी भी हरकत करेंगे तो वह बिदक जायेगी, जंगल की अन्य अनर्गल आवाजों में खो जायेगी। असली बात विश्वास की है; जब लड़की को विश्वास हो जाता—कि आसपास कोई जोखिम नहीं है तो वह धीरे-धीरे पास आती, चौकन्नी, सतर्क और झिझकती हुई, इसलिए नहीं कि निहाल-चन्द्र पर उसे भरोसा न हो, बल्कि इसलिए कि वे जोखिम हैं, निरीह भी, खतरनाक भी; दोनों ही···इसीलिए वह एकदम पास नहीं आती थी, एक हाथ की दूरी बनाये रखती थी, दूसरा हाथ आगे बढ़ाती थी, उनकी जेबों को टटोलने लगती थी, आर्मी ओवरकोट की लम्बी अंधेरी जेबें, जिन्हें उसकी अंगुलियाँ धीरे-धीरे सहलाने लगतीं—"निहाली, ओ निहाली?"

क्या पूछ रही है, कौन-सा भेद, जिसे वह खींच रही है, खाली जेबों के बीच ? उसकी छुअन लगते ही खून सुलगने लगता, दौड़ने लगता, पागल बैल की तरह अन्धाधुन्ध, बदहवास, लगी-बँधी लीकों को तोड़ता हुआ, दिल को अपने साथ घसीटता हुआ, पुरानी हड्डियों से टकराता हुआ और निहालचन्द्र अपनी उम्र के बन्द सींकचे उठा देते, देह-पिंजर को खुला छोड़ देते, जाने दो, कोई भीतर कहता, भागने दो, कब तक इसे बचाकर रखोगे ?

वह शान्त घड़ी होती। नवम्बर की मुरझायी धूप हवाघर के कंकाली खँडहर पर धीरे-धीरे सरकने लगती। पेड़, पत्ते, झाड़ियाँ निस्पन्द खड़े रहते। निहालचन्द्र दम रोके प्रतीक्षा करते, एक तिनका भी हिलता तो उनकी देह तन जाती। पलकों को कसकर भींच लेते, जिनके भीतर आँखों के डेले धूप में रंग-बिरंगे गोले-से नाचने लगते और तब एक झटके से वे अपने से छूट जाते—देह अलग पड़ी रहती। और निहालचन्द्र ? वे दूसरी तरफ़ चले जाते, जहाँ उनका तीसरा और—अन्तिम स्टेशन होता।

वहाँ उन्हें कोई देखनेवाला नहीं था; न डर, न खटका, न कोई गवाह। खँडहर की छाया में उनकी देह औंधी पड़ी रहती। वह उनके पास सरक आती, अपनी चुन्नी को छाती से उड़काकर कन्धों पर फेंक देती, उनसे सटकर उकड़ूँ बैठ जाती और तब निहालचन्द्र को भ्रम होता कि पलकों के पीछे जो धूप के धब्बे थे, वे असल में सलवार-कमीज की सुर्ख सुलगती बुँदकियाँ हैं—बिल्कुल सामने, वे चाहें, तो उन्हें छू सकते थे। लेकिन वे अपने को रोके रखते। बहाना करते कि वे कुछ भी नहीं देख रहे; उसकी अँगुलियों को अपनी देह से खेलने देते—"ओ निहाली, क्या सबकुछ खाली ?"

नहीं, आज उनकी जेबें खाली नहीं थीं; आज मैं सबकुछ साथ लाया हूँ। देखोगी ? वे अपना सिर थोड़ा-सा ऊपर उठाते, तो उसकी काली, कलपती आँखें उन्हें लीलने लगतीं; आँखें, जो पिछली जिन्दगी की धोखा-घड़ी को एक निगाह में तौल लेती हैं।

क्या दिखायेगा, भोंदू ! सड़ा हुआ अलूचा, मरा हुआ तीतर या·· किसी झींगुर की झरी लोथ ? यही चीजें तो वह बहुत पहले लड़की व दिखाता था, निकर की जेबों में ठूँसकर लाता था, एक-एक करके निकाल

था, किसी बिल्ली की मूंछ, बुढ़िया का बाल ?

कुछ भी नहीं। उस दिन जेब में से एक भी चीज ऐसी नहीं निकली, जिसे वे पहचान सकती। सिर्फ कागजों के ढेर। बैंक की पासबुक, नयी ताजी चिट्ठियाँ, जायदाद के कागज···और एक नीली-सी नन्हीं किताब, जिस पर उसकी निगाहें जम गयीं कर्नल निहालचन्द्र का पासपोर्ट जिसे वे हमेशा साथ लेकर चलते थे। सड़क पर कुछ हो जाये तो पुलिस उनकी फोटो, नाम-पता देखकर घर-ठिकाने का पता तो लगा ही सकती है। हर तीन साल बाद पासपोर्ट ऑफिस जाकर उसे रिन्यू करवाते थे, सोचते थे, कभी लड़के से मिलने गये तो काम आयेगा। तेरी लालसा मरी नहीं, निहालू ?

लालसा ! एक तितली-सा उड़ता हुआ यह शब्द निहालचन्द्र के इर्द-गिर्द घूमने लगा। क्या कोई ऐसी चीज बची रह गयी है, जहाँ वे एक क्षण बैठ सकें—जो सचमुच लालसा हो, जहाँ वे अपने पर समेटकर आराम से, अकेले में पट सकें ? उन्होंने अपने भीतर झाँका, तो वहाँ लालसा नहीं, लड़की बैठी थी—कौन है यह ? गले में फँसी चुन्नी, पीला-सा गोल चेहरा, धूल में सनी लटें, और—रस्सी, कूदनेवाली रस्सी जो मानो पिछले पचास सालों से उसके साथ घिसट रही थी। उसका सिर नीचे झुका था और वह एकटक आँखों से उस फोटो को निहार रही थी जो अचानक कागजों के ढेर से बाहर निकल आयी थी। निहालचन्द्र अपनी उत्सुकता नहीं दबा सके। देखने के लिए नीचे सिर झुकाया तो लड़की की आँखें ऊपर उठ आयीं।

"कौन है यह औरत ?"

औरत ! उन्हें झटका-सा लगा।

"मेरी पत्नी," उन्होंने कहा।

"सच ?"

"हाँ सच नहीं तो क्या ऐसे ही।" निहालचन्द्र का स्वर कुछ संकुचित-सा हो आया—भीतर-ही-भीतर कुछ दहलने-सा लगा।

"और ये पहाड़ ?"

"पहाड़ ?" निहालचन्द्र का ध्यान भटकने लगा। नहीं, यह सपना नहीं था। पीछे सचमुच पहाड़ थे, नंगे और धूप में चमकते हुए। उन दिनों उनकी पोस्टिंग लद्दाख में हुई थी। पीछे मॉनेस्टरी थी, और वहाँ दो बौद्ध भिक्षु

की पत्नी को देखते हुए सीढ़ियाँ उतर रहे थे और वह बाजार की तरफ
[illegible] रही थी—कैमरे से बिल्कुल बेखबर।

उनकी पत्नी? हाँ, यह वही थी; फोटो पर निहारता चेहरा, जिस पर
[illegible]ाखिरी बीमारी का अन्देशा अभी नहीं बैठा था। पीड़ा बहुत आगे थी…
[illegible]या वह उसे देख रही थी? नहीं, नहीं, यह तुम देखते हो निहालचन्द्र, वह
नहीं। कैमरे का क्षण ही उसका चेहरा था, होंठ हलके-से खुले थे और वह
जानती थी कि तुम हो, पहाड़ है, सीढ़ियों पर पैर रखते हुए बौद्ध भिक्षु,
दुकानों पर टँगे हुए सेकेण्डहैण्ड कपड़े, हवा में फड़फड़ाते हुए; उस दिन
कितनी हवा थी, साड़ी का पल्लू बार-बार उड़ता हुआ उसके चेहरे को ढक
लेता था—लेकिन आश्चर्य! फोटो में सबकुछ शान्त था। वहाँ कोई हवा
नहीं थी।

वहाँ सिर्फ लड़की की अँगुली थी, धूल में सनी हुई, उस चेहरे पर गड़ी
हुई, जो उनकी पत्नी थी, मैला कागज था, एक गोल सिफर, फोटो की
छाँह…

"निहाली", लड़की का स्वर बहुत धीमा था, "क्या वे कभी आते हैं?"

"कौन?" उन्होंने कुछ विस्मय से पूछा, "कौन आते हैं?"

"तुम्हारा लड़का?"

"वह बाहर है।"

"और यह?" लड़की ने फोटो को देखा।

"पागल!" निहालचन्द्र उसकी बेवकूफी पर हँस दिये, "वह अब इ[illegible]
दुनिया में नहीं है।"

"फिर तुम?"

"मैं क्या करूँ?"

पहली बार उनके मुँह से लड़की का नाम निकला—दहशत में…
क्या? क्या मतलब है इसका?" लड़की हकबकी आँखों से उन्हें देखने ल[illegible]
मुँह थोड़ा-सा खुला रह गया…

"निहाली?"

"क्या?"

"मुझे देखते हो?"

निहालचन्द उसे भूखी, खाली निगाहों से ताकते रहे। अचानक ध्यान आया, इतने बरसों बाद भी बच्ची कितनी ठिगनी और छोटी दिखायी देती है — बौनी-सी। मुद्दत पहले जब वह उम्र में सचमुच छोटी थी, तो कितनी लम्बी-जवान दिखायी देती थी, क्या समय उल्टा चलता है? नहीं, यह उनका भ्रम है। शायद बचपन में हर चीज़ बड़ी दिखायी देती है — घर, पेड़, माँ बाप और —अचानक निहालचन्द चौंक गये जैसे लड़की ने पीछे मुड़कर उनके कानों में फुसफुसाया हो, "और —प्रेम, नहीं तो क्या?"

"प्रेम? क्या तुम किसी से प्रेम कर सके निहाली? कर्नल निहालचन्द?"

एक धक्का-सा खाकर वे होश में आये। किसकी आवाज़ थी यह—या सिर्फ छल और धोखा था। भीतर की अटपटी पुकार, जो बुढ़ापे में जंगल से उठती है, लावारिस-सी लपटती आवाज़, दरवाज़ा खटखटाती है, खोलो, तो कुछ नहीं, शून्य का अनन्त विस्तार दिखायी देता है, दूर दूर तक कोई नहीं, भीतर का मरु बाहर की झुलसती लू पर धधकता है, न प्रेम, न लगाव, न मोह की पीड़ा —पीड़ा भी नहीं, कुछ भी दिखायी नहीं देता, पत्नी का चेहरा और बेटे की याद, कुछ भी नहीं —सिर्फ मैं। तुम कौन निहालचन्द, क्या हो तुम?

खट-खट-खट··· वह रस्सी कूद रही थी। ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर— खंडहर के सूने में उसके पैरों की गूँज निहालचन्द की मुँदी पलकों को छल-छलाने लगी।

वे सो रहे थे। खाने के बाद वे घड़ी-दो घड़ी ज़रूर सो लेते थे। जब वे सो रहे होते, चीलों-चिड़ियों का झुण्ड हवाघर के झरोखों पर बैठ जाता। निहालचन्द की जूठन खाकर अब उनकी निगाहें निहालचन्द की देह पर चिपक जातीं— मानो सोच रहे हों, क्या यह देह भी उनके आहार में शामिल है? उन्हें काफी निराशा हुई, जब निहालचन्द ने आँखें खोल दीं। सबसे पहले आकाश दिखायी दिया···नवम्बर का नीला टुकड़ा। वह उनकी नींद से निकलकर गुम्बद पर आ अटका था। नीला और सफ़ेद; सर्दी की धुन्ध में स्वप्न के फाहे-सा; यह नींद की धुन्ध थी—जिसमें आधी देह सोयी रहती है, आधी

सिर बाहर निकालकर दुनिया को देखती है···देवीसिंह ! उन्होंने धीरे-से आवाज लगायी, फिर अचानक याद आया, वे घर में नहीं, बाहर लेटे हैं। लेटे-ही-लेटे हाथ बढ़ाकर थैले को टटोला; वे थर्मस निकालकर बची हुई कॉफ़ी से गला तर करना चाहते थे; किन्तु उनका हाथ थैले पर नहीं—कागजों के ढेर पर जा पड़ा।

वे हवा में सरसरा रहे थे। पेंशन के दस्तावेज, फोटो, खत, खुला हुआ पासपोर्ट। निहालचन्द्र ने झटके से सिर मोड़ा···ये यहाँ कैसे निकल आये ? उन्हें ठीक से याद नहीं पड़ा, कब उन्हें अपनी जेबों से बाहर निकाला था ? कुछ चीजें उनकी चेतना की चौहद्दी के बाहर हो जाती थीं···अनदेखे घट जाती थीं—अपनी मौजूदगी को अचानक उनके सामने पटक देती थीं··· देखो, ये हम हैं, तुम्हारे सामने, और तुम्हें पता भी नहीं ? और निहालचन्द्र खिसियाने-से होकर उन्हें स्वीकार कर लेते हैं; कभी यह पूछने का साहस नहीं हुआ. मैंने तो तुम्हें जेब में रखा था, तुम बाहर कैसे निकल आयीं ? सच पूछो, तो निहालचन्द्र को चीजें आदमियों से कहीं ज्यादा सगी और समझदार जान पड़ती थीं—पालतू जानवरों-सी—वे बरसों उनके साथ रही थीं और कभी उन्हें धोखा नहीं दिया था। वे आँख मूँदकर सिर्फ छूने-भर से उनकी पुरानी, पपड़ायी पहचान को पकड़ लेते थे—यह मुन्नू का पत्र है और यह है बैंक की पासबुक, यह लद्दाख का फोटो है,—और यह ? अचानक उनकी टटोलती अँगुलियाँ ठिठक गयीं। आँखें खोलीं, तो देवीसिंह का पोस्टकार्ड दिखायी दिया, जो उसने छुट्टियों में गाँव से भेजा था···

देवीसिंह का ध्यान आते ही वे हड़बड़ा-से गये। वह बरामदे में गुड़मुड़ी-सा बना बैठा होगा—पता नहीं कितनी बार खाने को गर्म किया होगा, दरवाजा खोलकर बाहर झांका होगा। उन्हें अकसर देर हो जाती थी और अपनी बड़ी, पहाड़ी आँखें उठाकर गहरे आश्चर्य में उन्हें देखता था; कहता कुछ नहीं था, किन्तु हर बार एक ही प्रश्न उसकी गूंगी निगाहों में झलक जाता था—आप कहाँ जाते हैं ? सुबह की सैर और शाम तक गायब—अगर आपको कुछ हो गया, तो मैं कहाँ आपको ढूंढ़ता फिरूंगा ? निहालचन्द्र हर रोज कोई-न-कोई बहाना खोज निकालते—लेकिन भीतर एक धुकधुकी-सी मची रहती कि कहीं वह उनकी शिकायत मुन्नू को न लिख भेजे। विदेश

जाने से पहले वह बार-बार उनसे कह गया था, "देवीसिंह के अलावा आपके पास कोई नहीं वह चला गया, तो आप अपाहिज हो जायेंगे।" अपाहिज! ठीक है, हो जाऊँगा। तुम तो देखने नहीं आओगे। बरामदे में खटिया डाल-कर पड़ा रहूँगा —मुझे अब किसी की जरूरत नहीं। मेरे लिये अब सबकुछ एक-जैसा है"'जैसी रात वैसा दिन"' उनका गुस्सा बहने लगा, एक रुआँसा बेबस क्रोध, उस पानी की तरह बाँझ और बेतुका, जो रेगिस्तान की सुलगती जमीन पर बरसता है, बह जाता है, सूख जाता है, अपने पीछे रत्ती-भर हरियाली नहीं छोड़ता।

रेगिस्तान! उनके हाथ बिखरे हुए कागज पर ठिठक गये। उनकी अन्तिम पोस्टिंग वहीं हुई थी, राजस्थान और पाकिस्तान के बॉर्डर पर, चारों तरफ रेगिस्तान फैला था। अब सोचते हैं, तो हँसी आती है, लेकिन उन दिनों वहीं बस जाने की इच्छा होती थी। लगता था, वे अपनी जिन्दगी के आखिरी पड़ाव पर आ पहुँचे हैं। घण्टों रेगिस्तान में घूमते रहते, रेत के कँगूरों पर बैठे रहते, न पत्नी की याद आती, न लड़के की, अकेली घड़ियों में लगता जैसे वे धीरे-धीरे किसी सत्य की तरफ पहुँच रहे हैं, उस अँधेरे कुएँ की थाह को छू रहे हैं, जो उम्र के अन्तिम छोर पर उन्हें इतना अकेला छोड़ गया था"'कभी-कभी हैरानी भी होती थी कि जो सत्य महात्मा बौद्ध भिक्षुओं से नहीं मिल सका, वह आखीर में रेगिस्तान की साँय-साँय करती उड़ती धूल में छिप गया?"'कैसा सत्य निहाली?

निहालचन्द ने सिर मोड़ा, वे कुछ कहना चाहते थे, कोई बात, जो बरसों से भीतर घुमड़ती रही थी—लबालब गले में भर जाती थी, थकान, उम्र और हिचकिचाहट को काटती हुई"'किन्तु वहाँ कोई न था। झाड़ियों पर नवम्बर की धूप गिर रही थी। हवाघर का गुम्बद एक निस्पन्द और सीधी मुट्ठी-सा हवा में उठा था"'न चील, न चिड़िया, न कोई आवाज। रस्सी कूदने की खटाखट भी नहीं। सिर्फ एक पथरायी सर्द रोशनी थी"'जो अब एक मुरझायी सफ़ेदी-सी सारे जंगल पर फैली थी।

निहालचन्द कुछ देर बिना हिले-डुले बैठे रहे"' फिर उन्होंने जबरदस्ती अपने को खड़ा किया, जैसे वह अपनी नहीं, किसी दूसरे की देह को घसीट रहे हों। पोटली, छड़ी, थर्मस,"'जेबों में ठुँसे कागज। अब निहालचन्द थमने

तो सबकुछ उनके पास था। वह कुछ भी नहीं भूल...
नहीं छूटा था।

...छे मुड़ने का रास्ता वहीं था, जिस पर वे चलकर आये थे। पथरीली ...गडण्डी, झाड़-झंखाड़, दूर-दूर तक खड़े मिट्टी के ढूह, पीले और सफ़ेद दागों ...दग हुए, जिन पर परिन्दों ने बीट कर दी थी। वे कब पीछे छूट गये, निहालचन्द्र को पता भी न चला। वे कुछ खास सोच भी नहीं रहे थे, जो उनका मन भटका देता, सिर्फ़ कोई भटका-सा खयाल आ जाता, जो उनके मन को छूता हुआ निकल जाता, देवीसिंह का चेहरा, घर का कमरा जेब में ठुँसे कागजों की खड़-खड़ — इन सबकी छोटी-छोटी चिन्दियाँ उनके रास्ते पर उड़ती जातीं; वे एक को पकड़ते, तो दूसरी उन्हें पकड़ लेती। सुबह की एकाग्र तन्मयता अब खत्म हो चुकी थी, जब वे आँखें मूँदे हवाघर की ओर भागते जा रहे थे; अब सिर्फ़ बदहवासी थी, जिसमें आँखे खुली रहती हैं और दिखायी कुछ नहीं देता।

फिर जंगल का टुकड़ा आया और निहालचन्द्र को लगा, जैसे वे धूप की सफेदी से उतरकर एक लम्बी छाँह में चले आये हैं। आँखों को राहत मिली। पत्तों पर पैर आसानी से पड़ते जाते, कभी कोई झाड़ी उनके कोट से अटक जाती, तो वह खड़े हो जाते, बहुत कोमलता से अपने को रिहा करते, एक अजीब-सा भ्रम होता, जैसे कोई दबे पाँव उनके पीछे आ रहा है। वे मुड़कर पीछे देखते तो कोई दिखायी नहीं देता... सिर उठाये पेड़ नीचे झुकी झाड़ियाँ···बीच में नाचते धूप के छल्ले। उन्हें लगता, मानो ऐसा कभी पहले भी हुआ है···मुद्दत पहले — जब वह उनके पीछे गायब हो जा... थी और वे अपने घर के बाग में अकेले चक्कर लगाते थे — कट्टो? वह आव... देने की कोशिश करते, किन्तु कोई उनका गला पकड़ लेता — जाने दो, उ... भीतर का शैतान कहता, तुम्हारे आगे सारी जिन्दगी पड़ी है। आगे आगे···वह उन्हें घसीटता हुआ यहाँ तक ले आया था···

कैसी जिन्दगी?

ऊपर हल्की-सी फड़फड़ाहट हुई और उनके पैर सहसा ठिठक गये... उठाया, तो पहले क्षण कुछ दिखायी नहीं दिया। दोनों तरफ के पे...

दूसरे पर झुके थे। पत्तों के बीच आकाश की नीली फाँक चमक जाती थी। उन्हें समझ में नहीं आया, यह आवाज़ कहाँ से आयी है, फिर सोचा, ऊपर की कोई शाख हिली है, एक डाल से जब कोई पक्षी उड़ता है तो वह काँपती है, किन्तु दूसरी डाल भी थोड़ा-सा हिलती है, जिस पर वह बैठता है, लेकिन ऊपर कोई पक्षी दिखायी नहीं दिया उस अजीब-सी खड़खड़ाहट के बाद सबकुछ शान्त हो गया था।

निहालचन्द आगे बढ़े—और तब उन्हें एक बार किसी ने फिर रोक लिया। इस बार कोई आवाज़ नहीं थी। सिर्फ उनकी आँखों के सामने कुछ डोल रहा था। उन्होंने अपने चश्मे को सीधा किया, जो ऊपर ढलान से नीचे खिसक आया था—इस बार उनकी आँखें उठीं, तो वहीं थिर होकर रह गयीं।

वह बरगद का छितनार पेड़ था। उसकी शाख नीचे लटकी थी एक बूढ़ी बाँह की तरह मुड़ी हुई जिसके किनारे पर एक रस्सी लटकी थी धीरे-धीरे हवा में डोल रही थी, जैसे कोई साँप बीन सुनता हुआ फन हिलाता है। उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ कि रस्सी को पेड़ से बाँधा नहीं गया था, सिर्फ टहनी पर फेंक दिया गया था और वह वहीं अटक गयी थी, अधर में लटकी हुई, दोनों सिरों को हवा में झुलाती हुई। रस्सी के किनारों पर दो नन्हें मेहँदी रँगे हाथों के स्पर्श जुड़े थे, काठ के बेलन, हथेलियों की रगड़, धूल और पसीने से घिसे हुए···

पता नहीं, कितनी देर निहालचन्द उसे निहारते रहे, जैसे वह रस्सी न होकर कोई मायाजाल हो···नवम्बर की धूप में जलती मृगतृष्णा। हवा ठहर गयी थी, सारा जंगल एक घोसले-सा सिमट आया था अपने भीतर ही साँसें खींचता हुआ। वह सिर उठाये निश्चल खड़े थे। कोई उन्हें देखता तो भ्रम होता कि वह आदमी नहीं है जंगल का ही कोई वृक्ष, लम्बा जन्तु कोई अनहोनी-सी आहट सुनकर बीच पगडण्डी पर खड़ा हो गया है। उनका कद इतना लम्बा था कि ज़रा-सा हाथ उठाते ही वे रस्सी को छू सकते थे, पकड़कर नीचे खींच सकते थे, किन्तु वे बिना हिले-डुले खड़े रहे, बट्टो—उन्होंने धीरे से फुसफुसाया, फिर आवाज़ कुछ ऊपर उठ गयी, छाती की बलगम के बीच एक खँखारती पुकार, जो भीतर की दलदल से बाहर निकलने

को छटपटा रही थी। कुछ देर अभेद्य सन्नाटा सनसनाता रहा···फिर अचानक उन्हें अपनी चीख सुनायी दी, जो किसी तरह बाहर निकल आयी थी, और इस बार किसी ने उनको नहीं रोका, गला दबाकर उन्हें चुप नहीं कराया और वे उसे सुनते रहे, जो उनकी आवाज थी, जंगल के आर-पार, झाड़ियों और पेड़ों के बीच, बचपन के एक सिरे से बुढ़ापे के दूसरे सिरे तक गूंजती हुई···

कोई जवाब नहीं मिला। आसपास कहीं कोई न था। हवा उठी थी और पेड़ सरसरा रहे थे···रस्सी के दोनों सिरे नशे में झूल रहे थे। कुछ देर तक वे इस आशा में खड़े रहे कि वह अचानक झाड़ियों के बीच प्रकट हो जायेगी, अपनी रस्सी लेने दोबारा लौट आयेगी···किन्तु बहुत देर तक कहीं कोई दिखायी नहीं दिया, न उसकी हंसी, न झाड़ियों की खड़खड़—कुछ भी ऐसा नहीं जो उन्हें विश्वास दिला सके कि वह उस दोपहर उनके पास आयी थी, उनसे सटकर बैठी थी, जेबों की तलाशी ली थी, जब वे सो रहे थे; और उनके कागज बाहर बिखरे थे, जब वे जागे थे···

निहालचन्द्र ? क्या तुम सचमुच जागे थे ?

अँधेरा होते ही हवा रुक गयी। कुछ भी नहीं हिल रहा था; न झाड़ी, न पत्ता, न पेड़। कभी-कभी जंगल के भीतर से एक गर्म उसांस-सी निकलती थी, सिर-सिर करती एक सीटी बजाती थी—ऊपर उठ जाती थी —धोबी-घाट के ऊपर···कुत्तों को चौंकाती हुई आगे बढ़ जाती थी, गन्दे नाले पर उतर जाती थी और धीरे-धीरे सरकती हुई निहालचन्द्र के घर के फाटक पर आकर रुक जाती थी।

देवीसिंह उसे ऊँघते हुए सुनता—और रह-रहकर हुड़क जाता। वह पहाड़ी था और बचपन से इस तरह की अंधेरी, स्वरहीन आवाजों को सुनता आया था—जो आवाजें भी नहीं थीं—केवल जंगल की देह की गूंगी वासनाएँ, जो पशुओं और पेड़ों की कराहों में सिसका करती थीं। वह बार-बार दरवाजे की तरफ भागता, बाहर झांकता और फिर वैसे ही भागता हुआ रसोई में लौट आता।

उस रात वह रसोई में ही लेटा था। रात का खाना दो बार गर्म होकर

अब ठण्डा पड गया था। ऐसा बहुत कम होता था कि कर्नल साहब सुबह की सैर को निकलें और दोपहर तक घर न लौट आयें। देरी हो जाती तो भी अँधेरा होने से पहले जरूर लौट आते थे। सीढियों पर छडी की खटखटाहट से ही देवीसिंह पहचान जाता था कि वे लौट आये हैं। कभी-कभी गुस्से में भरा वह रसोई में ही लेटा रहता, जैसे उनकी आहट सुनी ही न हो, ऐसे दिनों में निहालचन्द्र उसे बुलाते नही थे, उसकी आँखें बचाकर दबे पाँवो से अपने कमरे मे घुस जाते, बिस्तर पर लेट जाते—और तब देवीसिंह का मन हुमसने लगता, जल्दी से चाय बनाकर उनके कमरे में ले आता और वह आँखें मूँदकर बहाना करते, जैसे उसे देखा ही न हो।

किन्तु उस रात उनका कमरा खाली था, पलँग के नीचे उनकी चप्पलें पड़ी थी। कोने मे चिलमची और गर्म पानी का जग, जो अब एकदम ठण्डा पड गया था। देवीसिंह ने कमरे की अँगीठी मे आग जला दी, ताकि जब वे आयें, तो उन्हें परेशान न करें, खाना खाकर तुरन्त सो जायें। खुद उसकी आँखें बोझिल हो रही थी–एक बार इच्छा हुई कि पडोस के मकान मे खबर दे आये कि कर्नल साहब अभी तक नही लौटे, किन्तु फिर पैर रुक गये। शहर में छोटी-से-छोटी बात पर पुलिस आ धमकती है। देवीसिंह को पुलिस देखते ही कँपकँपी छूटने लगती थी। चुप रहना ही बेहतर था। अभी नहीं, कुछ देर में आते होंगे, अकेले आदमी, जायेंगे कहाँ? और इस उम्र में भला?

यह बहुत बड़ी सान्त्वना थी। निहालचन्द्र सचमुच ही कहीं नही जा सकते थे। सिर्फ लौट सकते थे—हर दोपहर साल मे तीन सौ पैंसठ बार। बेनागा, उम्र के आखिरी दिन तक।

धीरे-से कुछ खडका, तो वह चौंक गया। क्या दरवाजा खटका है। या सिर्फ हवा है? देवीसिंह कुछ देर अँधेरे में बैठा रहा, फिर दबे पांव निहाल-चन्द्र के कमरे में गया। आग मे सुलगती लकड़ियाँ कड़क उठती थीं, जिनकी आवाज ने उसे जगा दिया था। अँगीठी के पास रखी लोहे की सलाख से उसने नीचे दबी लकड़ियों को ऊपर खिसकाया, राख को कुरेदा और जब वे बल-बल करती हुई दुबारा जलने लगी तो वहीं लेट गया, निहालचन्द्र के पलँग के नीचे, आग की लपकती लपटो की गरमाई कब उसकी नींद को घेर लायी, उसे पता भी नही चला। यह भी पता नहीं चला कि कब वह दरवाजे

साँकल खोलकर बाहर चला आया, उसी रास्ते पर चलने लगा, जिस पर हर रोज निहालचन्द्र सैर के लिए जाते थे, गन्दा नाला, धोबीघाट का मैदान, नहर की चमकीली, सँकरी धारा···

पेड़ों के ऊपर चाँद निकल आया था और सारा जंगल एक अद्भुत उजाले में चमक रहा था। कुछ दूर पर वह दिखायी दिये, दोनों हाथों को हवा में डुलाते हुए। देवीसिंह के पैर ठिठक गये। उसे कुछ अजीब-सा लगा कि कर्नल साहब का वही चेहरा-मोहरा है, वही देह, वही कपड़े—लेकिन उस क्षण वे चौदह बरस के लड़के दिखायी दे रहे थे। साफ, कुँआरा, उत्सुक चेहरा—वे अपने दोनों हाथ हवा में हिला रहे थे। वे उसे बुला रहे थे—और तब वह निडर होकर भागने लगा। बिल्कुल उनके पास चला आया, वहीं खड़ा हो गया, जहाँ वे पेड़ के नीचे झूल रहे थे।

निहालचन्द्र के गले में रस्सी फँसी थी और रस्सी का सिरा पेड़ की टहनी से बँधा था। टहनी हिल रही थी और निहालचन्द्र लटक रहे थे। नीचे घास पर उनका थैला, उनकी थर्मस, उनकी आर्मी का कोट पड़ा था, दोनों जेबें उघड़ी पड़ी थीं—नंगी और उल्टी, बिल्कुल खाली। खट-खट···खट···उसे अजीब-सी आवाज सुनायी दी, सिर उठाया, तो बच्चों के कूदनेवाली रस्सी दिखायी दी, चाँदनी में हिलते हुए दो नन्हे पीले बेलन, जो टहनी के हिलने से बार-बार निहालचन्द्र के झूलते सिर से टकरा जाते थे।

आदमी और लड़की

उसने दुकान का दरवाजा खोला तो घण्टी की आवाज हुई—टन। जब वह भीतर आया और दरवाजा मुड़कर देहरी में दुबारा सट गया, तो घण्टी दुबारा बजी, इस दफा दो बार टन, टन।

यह दूसरी आवाज काफी देर तक गूंजती रही। यह चेतावनी थी कि कोई भीतर आया है।

दुकान में कोई नहीं था। उसे हमेशा लगता था कि यदि वह शेल्फ से दो-चार किताबें उठाकर भाग जाय, तो किसी को पता भी नहीं चलेगा। यह उसका भ्रम था। घण्टी बजते ही काउण्टर के पीछे दो आँखें उसे अनजाने में ही पकड़ लेती थीं—आँखें, जो नीली थीं और गीली सी। ऐनक के पीछे दो डबडबाये धब्बे उसे निहार रहे थे।

वह किताबों की अलमारियों के बीच रास्ता टटोलता हुआ काउण्टर के सामने आ खड़ा हुआ।

"क्या हाल हैं?" उसने पूछा।

अधेड़ मैनेजर ने उसकी ओर देखा; फिर कन्धे उचका दिये—जिससे कुछ पता नहीं चला कि वह कैसे मूड में है।

"सर्दी शुरू हो चली है।" उसने कहा। मौसम का खयाल अचानक उसे मैनेजर की मूंछें देखने पर हो आया था, जो इतनी सफेद थीं, मानो अभी-अभी उन पर ताजा बर्फ गिरी हो।

"होगी ही।" बूढ़े ने तटस्थ भाव से कहा, "अक्तूबर का महीना है।"

"अभी हीटिंग शुरू नहीं हुई?"

"नवम्बर से पहले नहीं, चाहे बर्फ ही क्यों न गिरने लगे।" बूढ़ा बहु ही महीन भाव से सरकार पर कटाक्ष करता था। मुद्दत पहले वह दुका का मालिक था, अब नये तन्त्र के नीचे, सरकार उसकी मालिक थी, उ किताबों की भी—जो उसके बाप-दादाओं ने पहली लड़ाई के जमाने जमा की थीं। दुकान वही थी, लेकिन रातों-रात कानून की लकीर उस और बाप-दादा की विरासत के बीच एक खाई-सी खोल गयी थी। काउण्ट पर वह अब भी बैठता था—पहले की तरह—लेकिन अब किताबों उसका रिश्ता कुछ वैसा ही था, जैसे कोई बाप जीते-जी अपने बच्चों क अनाथालय में देखता है।

"आप सोचते हैं, क्या बर्फ गिरेगी?" आदमी ने पूछा।

बूढ़े ने ऐनक उतारी, मैले रूमाल से शीशे साफ किये, फिर नाक सिनकी—"बर्फ और मौत घण्टी बजाकर नहीं आती।"

उसे लगा, जैसे बूढ़े का इशारा उसकी तरफ है। पिछले दिनों जब कभी वह दुकान की घण्टी बजाता था, बूढ़े के चेहरे पर एक बेचैन-सी झुंझलाहट झलक आती थी। सीधे-सीधे कुछ नहीं कहता था, पर लगता था जैसे उसे सामने देखकर पिछली जिन्दगी की सारी शिकायतें खुल जाती थीं। पहले लड़ाई और हिटलर, फिर कम्युनिज्म, और अब…वह!

वह आगे चला आया, अलमारियों के बीच। किताबों पर दुपहर की ठण्डी, म्लान रोशनी गिर रही थी। उसने चारों तरफ टटोलती हुई निगाह डाली, लेकिन वह कहीं दिखायी न दी। अचानक एक आशंका ने उसे पकड़ लिया—सम्भव है, वह आज दुकान नहीं आयी। वह ठिठुरने लगा। अपने कोट की जेब में हाथ डाला, तार के कागज को छुआ, फिर उसे झटके से बाहर खींच लिया। गरमाई कहीं न थी, न कोट के अन्दर, न बाहर।

वह अब भी झिझक रहा था। लेकिन दुकान के बीच, बूढ़े की आँखों के सामने खड़े रहना असम्भव था। वह कुछ आगे बढ़कर एक लम्बी शेल्फ की ओट में छिप गया। उसने जेब से रूमाल निकाला और माथे का पसीना पोंछने लगा, सर्दी का पसीना, जो भीतर की देह से नहीं, बाहर की दहशत से टपकता है।

वह फटाक से मुड़ गया। ट्रॉली के पहिए चूं-चूं करते हुए शेल्फ को

दूसरी तरफ जा रहे थे। पीछे-पीछे वह आ रही थी, ट्रॉली के हैण्डिल को दोनों हाथों से पकड़े हुए—जैसे वह कोई छोटी-सी प्रैम हो, जिसमे बच्चे की जगह बहुत-सी किताबें बैठी थी।

लड़की का सिर ट्रॉली पर झुका था। वह एक-एक किताब उठाकर शेल्फ की दराज में रख रही थी। उसकी आँखें शायद बचपन से ही कमजोर रही होंगी। वह हर किताब को उठाती, उसे अपनी ऐनक के बहुत पास ले आती, लेखक का नाम और किताब का टाइटल पढ़ती, फिर डस्टर से उसे झाड़-पोंछकर दूसरी किताबों के सिरहाने टिका देती। वह अपने काम में इतनी डूबी थी कि उसे गुमान भी न था कि शेल्फ की दूसरी तरफ कोई उसे देख रहा है।

वह उसे देख रहा था। छत पर लटकी बत्ती का प्रकाश सीधा उसके चेहरे पर गिर रहा था; वह एक ठिगने कद की लड़की थी, लेकिन शेल्फ के पीछे सिर्फ उसका धड़ दिखायी देता था, कमर से ऊपर, जो उसकी टाँगों से कहीं ज्यादा वयस्क दिखायी देता था। उसने एक लम्बा नीले रंग का एप्रन पहन रखा था, जो दुकान में काम करनेवाली लड़कियाँ पहनती थीं—लेकिन उसके ऊपर वह ज्यादा नहीं फबता था। शायद इसलिए कि वह उसमें पूरी ढँक जाती थी—और तब कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि वह कितनी छोटी है, कि अभी कुछ दिन पहले उसकी बीसवीं वर्षगाँठ पर वह उसके लिए फूल लाया था, जो शायद अब भी उसके कमरे में पड़े सूख रहे होंगे।

अब वह सरकते हुए उसके बिलकुल पास चली आयी थी—लगभग उसके सामने। शेल्फ की सँकरी दराजों के बीच उसका सिर दिखायी दे रहा था। उसने हमेशा की तरह अपने बाल कसकर बाँध रखे थे—भूरे चमकीले बाल, जिनके बीच एक हिचकिचाती-सी माँग कुछ दूर चलकर उलझी हुई लटों में लोप हो गयी थी।

इस बार वह अपने को नहीं रोक सका। जब लड़की ने अन्तिम किताब शेल्फ पर रखने के लिए हाथ उठाया, तो उसने आगे बढ़कर उसके हाथ को पकड़ लिया, वहीं शेल्फ के ठण्डे लोहे पर। लड़की के मुँह से हल्की-सी चीख निकल गयी और वह घबरा गया। उसने जल्दी से किताबों को ठेलकर शेल्फ

के बीच अपना सिर अड़ा दिया—

"मैं हूँ।"

लड़की ने हकबकाकर आँखें ऊपर उठायीं; वह जैसे कोई जिन हो किताबों के बीच मुस्कराता हुआ।

"तुम ?"

"हाँ !"

"कब आये ?"

"कुछ देर पहले···तुम डर गयीं ?"

"हाँ···", लड़की ने सिर हिलाया। वह छोटी बातों में भी झूठ नहीं बोलती थी। उसका हाथ अब भी आदमी की हथेली में भिंचा था। एप्रन के पीछे छोटा-सा वक्ष ऊपर-नीचे हो रहा था। वह सचमुच डर गयी थी—वह कभी दुपहर के वक्त दुकान में नहीं आता था।

"तुम कुछ देर के लिए छुट्टी ले सकती हो ?"

"अभी ?" लड़की का हाथ ठण्डा-सा हो गया—उसके हाथ के भीतर।

"सिर्फ कुछ देर के लिए !" उसने कहा।

"कोई बात हुई है ?" लड़की की आँखें उस पर फैल गयीं।

"नहीं, ऐसे ही।" उसने उड़ते हुए स्वर में कहा। लड़की जिस तरह कभी झूठ नहीं बोलती थी, वह कभी सीधा सच नहीं बोल पाता था।

"तुम भीतर बैठो, मैं अभी आती हूँ।"

उसने अपना हाथ उसकी हथेली से बाहर निकाला; एक क्षण उसकी ओर देखा और फिर वह मुड़ गयी, किताबों की शेल्फों के पीछे छिप गयी।

दुकान के पिछवाड़े एक स्टोर-रूम था, जहाँ लोग पुरानी किताबें बेचने आते थे। लड़की वहीं एक स्टूल पर बैठती थी। पीछे एक परदा लगा था, जो दुकान के मुख्य, अगले भाग को भीतरी हिस्से से अलग कर देता था। परदे के पीछे एक छोटा-सा केबिन था, जहाँ लड़की लंच-टाइम मे घड़ी-दो घड़ी सुस्ताने आ बैठती थी।

वह यहाँ चला आया; कई बार यहाँ आया था; हर बार एक अजीब-सा भ्रम पकड़ लेता, मानो यह दुकान नहीं, लड़की के घर का प्राइवेट कमरा

हो। वहाँ बाहर की कोई आवाज़ नहीं आती थी : न आदमियों का शोर, न ट्रैफ़िक का कोलाहल, सिर्फ ट्राम की गडगडाहट जरूर सुनायी देती थी—बहुत गूढ और धीमी —जैसे कहीं दूर शहर के किनारे पर बादल कड़क रहा हो।

वह बेंत की आरामकुर्सी पर बैठ गया। कमरे मे अँधेरा उतना नहीं था, जितना रोशनी का अभाव : न कोई खिड़की, न रोशनदान। सिर्फ किताबों की बासी बू और दीवार के पीछे चूहों की सरसराहट। एक छोटी-सी मेज पर चाय-कॉफी का सामान रखा था—पुराने मिलाबी बिस्कुट और ब्राउन रोटी की स्लाइसें हमेशा तैयार रहती थीं। कभी लड़की को भूख लगती, वह जल्दी मे भीतर आकर कुछ-न-कुछ पेट मे डाल आती थी।

उसने पहली बार लड़की को इसी केबिन में देखा था। वह अपनी कुछ पुरानी किताबें बेचने आया था। लड़की काउण्टर के पीछे स्टूल पर बैठी डबल रोटी की एक स्लाइस कुतर रही थी। गोद मे ब्राउन रंग का अधबुना स्वेटर पड़ा था जिसकी ऊनी देह मे दो सलाइयाँ धुँपी थीं। उसकी आहट सुनकर लड़की हकबकाकर उठ खड़ी हुई—और तब पहले दिन, पहली बार उसने लड़की के चेहरे को देखा था।

वह मार्च का दिन रहा होगा और अब—अक्तूबर खत्म हो रहा था। इन सात महीनों मे वह तकरीबन अपनी सब किताबें बेच चुका था, जिन्हें वह अपने देश नहीं ले जाना चाहता था। पुराने शब्दकोश, टूरिस्ट गाइड्स और वे सब उपन्यास, जिन्हें लड़की दुकान के लिए खरीद लेती थी—और खाली समय मे खुद पढ़ती थी। उसे यह जानकर काफी हैरानी हुई थी कि वह अंग्रेजी पढ लेती थी और थोड़ी-बहुत बोल भी लेती थी।

दरअसल अंग्रेज़ी को लेकर ही उनके बीच बोलचाल का सिलसिला शुरू हुआ था। एक दिन जब वह कुछ किताबें बेचने आया, वह कुछ देर तक उन्हें उलट-पलटकर देखती रही। फिर अचानक बोली, "क्या आपके देश मे सब लोग अंग्रेजी बोलते हैं?"

"नहीं, ऐसा नहीं है।" उसने कहा, "मैं भी ठीक से नहीं बोल पाता।"

"आप बहुत अच्छा बोलते हैं।" उसने बहुत उदासीन भाव से कहा। फिर उसकी ओर से आँखें मोड़कर किताबों को समेटने लगी। "मैं अभी

ाती हूँ।" उसने किताबों का वण्डल उठाया और पार्टीशन के पीछे चली
ायी।

वह सोचने लगा—पता नहीं, आज कितनी किताबें चुनी जायेंगी। वहाँ कुछ ऐसा ही सिस्टम था। लड़की किताबों को मैनेजर के पास ले जाती वह उनमें से उन्हें चुन लेता, जो खरीदने लायक होतीं — बाकी वापि लौटा देता। सारा व्यापार जुए के खेल-सा होता था। किताबों को चुनने और ठुकराने का कोई ठोस आधार रहा हो, यह उसे कभी समझ में नहीं आया। जब कभी लड़की से वह इसके बारे में पूछताछ करता, तो वह अक्सर टाल जाती थी। जब वह बहुत जोर डालता (बाद के दिनों में) तो वह झुंझलाकर कहती—"हम वही किताबें पढ़ते हैं, जो हमारे लिए ठीक हैं!"

सौभाग्य की बात कहिए, उस दिन सब किताबें 'ठीक' निकलीं, तकरीबन सब—सिवा एक किताब के, जो मैनेजर ने वापिस भिजवा दी, रेक्विएम फॉर द नन। लड़की ने कुछ कौतूहल से उसकी ओर देखा, "क्या यह कोई धार्मिक किताब है?"

"नहीं", उसने कहा, "यह एक वेश्या के बारे में है।"

वह देखना चाहता था, उस पर क्या प्रतिक्रिया होती है। धर्म अ रण्डीबाजी—दोनों ही वहाँ वर्जित थे; किन्तु लड़की के चेहरे पर कोई भ नहीं आया; उसने चीमड़ पेपरबैक को धीरे से काउण्टर के नीचे स लिया, जिसे 'छिपाना' भी नहीं कहा जा सकता; काउण्टर के नीचेव दराज उसकी अपनी थी, जिसमें वह दिन का टिफिन, रूमाल-तौलिया घर की चाभियाँ रखती थी।

पता नहीं, उसकी कितनी किताबें इस काउण्टर के भीतर गा गयी थीं।

"आज आपको काफी पैसे मिलेंगे।"

उसने सरसरी निगाह से बिल को देखा, जो खट-खट कर कम्प्यूटर मशीन के बाहर निकल आया था। उसका मन हुआ झांककर बिल को देखे—फिर वह अपने को रोके रहा। यदि चौथाई किराया भी निकल सके, तो बाकी पैसे जुटाने में ज्या

...ला पानी

नहीं पड़ेगी।

"मालूम है, कितना है ?" उसने बिल को मशीन से खींचकर उसके सामने रख दिया।

चालीस क्राउन ! पहले क्षण विश्वास नहीं हो सका। पहले कभी उसे अपनी किताबों के लिए इतनी बड़ी रकम नहीं मिली थी। लड़की उसकी ओर विजयोल्लास से मुस्करा रही थी।

"इतना कैसे ?" उसने पूछा।

"ऐसे ही !" लड़की ने कहा, "ये अच्छे दिन हैं !"

अच्छे दिन ? दुकान के भीतर लड़की की भाषा मोहनजोदड़ो की लिपि जैसी होती थी—छिपे मतलब बहुत कुछ और देखो तो कुछ भी नहीं। कभी-कभी रात को नींद न आने पर, बिस्तर पर पड़े-पड़े एक कंगला वाक्य, कोई लूला लफ्ज अँधेरे में चमक जाता—लड़की के साथ चिपका हुआ। अच्छे दिन; बुरे दिन; काफी बुरे दिन। सबसे बुरे दिन वे होते, जब लड़की उसकी सब किताबें वापिस कर देती, खेद-भरी निगाहों से उसकी ओर देखती, 'आज कुछ भी नहीं'···और वह सब किताबों को अपने डफल बैग में ठूँसकर बाहर सड़क पर आ जाता। दुकान की लम्बी शीशेदार खिड़की पर एक छाया खड़ी हो जाती। वह देखती कि वह जा रहा है। वह सोचता, अगली बार कौन-सी किताबें लाऊँगा, जो खरीदने लायक होंगी। लड़की सोचती, कैसा आदमी है जो सिर्फ अंग्रेजी किताबों को बेचने आता है।

मैनेजर सबकुछ देखता, ऊँघने लगता। सोचता, वह किताबों के लिए नहीं, लड़की से मिलने आता है···लेकिन इस उम्र में ?

लड़की भीतर आयी। वह अपना लंच का टिफिन लेकर आयी थी; वह देहरी पर ठिठक गयी और उसे देखने लगी। आदमी कुर्सी के सिरहाने सिर टिकाकर आँखें मूंदे बैठा था। उसके चेहरे पर एक महीन-सी थकान थी, मानो उसकी नींद का फायदा उठाकर न केवल बीते हुए वर्ष, बल्कि आने-वाली उम्र भी उसके चेहरे पर सरक आयी हो। लड़की कुछ देर चुपचाप उसके चेहरे को देखती रही। कोई और दिन होता तो आदमी का इस तरह

अचानक दुकान में प्रगट हो जाना उसे अच्छा लगता। लेकिन आज उसे यह अपशगुन-सा जान पड़ा। उसे प्रेतों में विश्वास नहीं था, किन्तु आज जब उसने आदमी को किताबों की शेल्फ के पीछे देखा—पुराने ओवरकोट के गर्दभरे कॉलर, जो काले डैनों-से उसकी गर्दन पर उठे थे, तो वह अवाक्-सी उसे देखती रही थी, जैसे आदमी के वेश में कोई दूसरा आदमी उसे ताक रहा है; दूसरा आदमी ? वह धीरे से आगे बढ़ी, उसे सहलाने को मन हुआ, किन्तु फिर हाथ रोक लिया। सोने दो—उसने सोचा; अभी काफी समय है।

दुपहर के समय कोई गाहक नहीं आता था।

वह अपना टिफिनदान खोलने लगी, ब्राउन रोटी की सैण्डविच, जिसके भीतर सलामी दबी थी, एक छोटी बोतल में योर्गुर्त, चीज़ के क्यूब, सिरके में भीगा खीरा—यही उसका लंच था, जो वह हर रोज अपने साथ लाती थी। अगर उसे मालूम होता कि वह भी आ रहा है, तो वह उसके लिए भी कुछ ले आती—उसने कितनी बार आदमी से कहा था कि उसे घर में खाना बनाने की जरूरत नहीं; दुपहर का खाना वे एक साथ दुकान मे खा सकते हैं। लेकिन आदमी हर बार इन्कार कर देता था जैसे दिन की रोशनी में उससे मिलना खतरनाक हो। दिन के समय वह उससे तभी मिलता था, जब कोई ऐसी जरूरत हो जिसे टाला न जा सके। लेकिन आज; आज क्या जरूरत है ? वह कल रात ही तो उससे मिली थी।

वह कॉफ़ी के लिए पानी गर्म करने उठी तो देखा, आदमी की आँखें खुली हैं; पता नहीं, कितनी देर से वह उसकी हरकतों को देख रहा था।

"कुछ खाओगे ?" लड़की ने पूछा।

आदमी ने सिर हिलाया, फिर सीधा होकर बैठ गया। आँखें सुर्ख थीं और शेव के बाद भी गालों पर पिछली रात की परछाइँ बिछी थी। उसने आँखें मलीं और बालों को पीछे समेट लिया। याद नहीं आया, वह सो गया था—सपने की एक चिन्दी अब भी डोल रही थी, धीरे-धीरे वह गायब हो गयी और उसकी जगह लड़की दिखायी देने लगी।

लड़की ने अपना एप्रन उतार दिया था। अब वह हरे रंग की स्कर्ट पहने थी, जो हमेशा उसके घुटनों तक आकर रुक जाती थी। काली नॉयलन

की जुराबों के पीछे उसकी टाँगों का भोलापन झाँक रहा था। कमर पर काले रंग की पेटी कसी थी— बिल्कुल स्कूली लड़कियों की तरह—जिसके ऊपर भूरे रंग का ढीलाढाला कार्डीगन लटक रहा था। लड़की का चेहरा छिपा-सा जान पड़ता था, लेकिन देह हमेशा खुली और उजली दिखायी देती थी—दूसरी लड़कियों से बिल्कुल उल्टी, जिनका चेहरा सार्वजनिक होता है, जबकि देह बहुत प्राइवेट जान पड़ती है।

पानी उबलने लगा था—अचानक भाप का झोंका उठा और लड़की झुक गयी, दो मगों में कॉफ़ी डाली और जब मुँह उठाया तो होंठ खुल-से गये। पसीने की बूँदें माथे पर चमक रही थीं।

'घर से आ रहे हो?"

आदमी कुछ हिचका—वह घर से आ रहा था, लेकिन सीधे नहीं। उसका हाथ जेब में गया, फिर वहीं ठिठका रहा, टेलीग्राम पर।

"इन्स्टीट्यूट गया था।" उसने कहा।

"पूरा कर लिया?" लड़की हमेशा यही एक प्रश्न पूछती थी।

"नहीं, एडवांस माँगने गया था।" उसने कहा।

"कितने पेज करने हैं?"

"आखिरी चैप्टर बचा है—बाकी सब टाइप करना है।"

"क्या वे टाइप भी नहीं करवा सकते?" लड़की ने कुछ झुंझलाकर कहा।

"एक ही अंग्रेजी टाइपिस्ट है और वह छुट्टी पर गया है।"

आदमी धीरे-धीरे उसका हाथ सहलाने लगा। एक-दूसरे की चिन्ताओं को ढाँपने का यही एक तरीका बचा था। वे कहाँ-से-कहाँ चले आते थे। लेकिन लड़की की देह स्थिर रहती थी—स्थिर और ठण्डी। पैर सबसे ज्यादा। जब वह उसके कमरे में आती थी तो सबसे पहले अपने पैर आग के सामने फैला देती थी। उसे काफी हैरानी होती थी कि इतनी कम उम्र में लड़की के हाथ-पाँव इतने सुन्न रहते थे।

"कितने दिन में देना है?" लड़की ने पूछा।

"दस दिन···ज्यादा-से-ज्यादा पन्द्रह दिन, क्यों?"

"क्या मैं कर सकती हूँ?"

"तुम ?" आदमी के चेहरे पर एक थकी-सी मुस्कराहट चली आयी।

"क्यों नहीं···हर शाम किया करूँगी।"

लड़की ने हाल ही में टाइप करना सीखा था—अंग्रेजी टाइपराइटर पर। उसके लिए वह एक खेल-जैसा था। आदमी जितना भी अनुवाद करता, उसे डिक्टेट करवाता और उसकी अंगुलियों के नीचे से फटाफट अंग्रेजी शब्द फिसलते जाते। फिर दोनों बैठकर गलतियाँ छांटा करते। आदमी का कहना था, इस तरह वह अंग्रेजी और टाईपिंग दोनों एक साथ सीख जायेगी···लेकिन उसे सीखने की चाह उतनी नहीं थी, जितना सकून-सा मिलता था; रात की वही एक घड़ी होती थी, जब वह आदमी के पास होती थी, खिड़की के बाहर तारे दिखायी देते, टाइपराइटर के अक्षरों-से टिमटिमाते हुए···खट, खट, वह उन्हें दबाती जाती और वे आकाश से उतर-कर सफेद, फुल-स्केप कागज पर उतरते जाते।

केतली का पानी गुनगुना रहा था। लड़की ने स्विच बन्द कर दिया और ऊपर का रोशनदान खोल दिया, ताकि इस बार पानी की भाप बाहर जा सके।

"यह गर्म है···" लड़की ने दूसरा कप बनाने के लिए सिर झुकाया तो गले के पिछवाड़े का जूड़ा कन्धे की तरफ लुढ़क आया। लड़की की देह पर ऐसी अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ घटती थीं और वह उनसे बेखबर रहती थी, जैसे जब वह कोई पुरानी किताब बेचने आता था, तो वह अपने थूक से अँगुली गीला करके पन्ने पलटती थी और होंठ हिलाकर पढ़ती थी। ऐसे मौकों पर वह उसे बहुत गौर से देखता था, क्या यह वही लड़की है जिसकी देह को वह पिछली रातों छूता रहा था—और जो दिन में इतनी अछूती दिखायी देती थी ? ऐसे क्षणों में उसे लगता, वह कहीं नीचे है, गढ़हे में, एक जानवर की तरह दुबका हुआ, बार-बार एक ही इच्छा में मथता हुआ कि जब तक लड़की उसकी ओर से बेखबर कॉफ़ी बना रही है, वह उछल-कर गढ़हे से निकल सकता है, उसकी सफेद और कुँआरी गर्दन को दबोच-कर एक छलांग में दुकान से बाहर हो सकता है—दुकान से, पछतावे से, पाप से—सबसे बाहर। लेकिन जब वह आँखें ऊपर उठाती, तो उसके सब इरादे बुहर जाते। वह टकटकी लगाये उसे देखता रहता। लड़की पता नहीं,

किस खयाल मे मुस्कराने लगती। वह बँधा रहता—अपने गुस्से और सन्ताप और दिल की दलदल मे।

वह नीचे झुक आया, तिपाई पर, जहाँ लडकी का हाथ केतली पर टिका था और ऐसे कहा, जैसे अभी-अभी कुछ याद आया हो, "कल रात टेलीग्राम आया था।"

"टेलीग्राम?" लड़की के हाथ मे कॉफी का मग हवा मे ठिठक गया।

"वह बीमार है।" आदमी ने कहा, "मुझे बुलाया है।"

उसने तार जेब से बाहर निकाला—लाल कागज की मुड़ी हुई, दयनीय चिन्दियाँ जिसे लड़की ने देखते ही आँखें मोड़ ली।

"क्या बीमारी है?" उसने लापरवाही से पूछा।

"जाकर पता चलेगा।" आदमी ने कहा।

"कब?"

वह चुप बैठा रहा—मेज पर पड़े तार को देखता रहा।

"कब जा रहे हो?" लड़की ने दुबारा पूछा, किन्तु अब उसके स्वर मे लापरवाही के बदले एक अजीब-सी कोमलता भर आयी थी।

"मैं पत्र की राह देखूंगा।" उसने कहा।

"लेकिन अगर वह सचमुच बीमार है?" लड़की ने कहा।

"सचमुच का मतलब? तुम सोचती हो, यह बहाना है?"

"मैंने यह नहीं कहा।" लड़की ने कहा "अगर वह बीमार है, तो तुम्हें जाना चाहिए।"

"तुम्हें बहुत जल्दी है।"

"जल्दी कैसी?"

"मेरे जाने की!"

लड़की ने विस्मय से उसकी ओर देखा।

"मैं समझी नही।" उसने कहा।

"मुझसे ज्यादा तुम उसकी फिक्र करती हो।"

यह कटाक्ष था। वह कटाक्ष से भी आगे जाना चाहता था, जहाँ क्रूरता शुरू होती है, किन्तु वहाँ सिर्फ कमीनापन था और वह रुक गया। आगे कुछ भी न था—सिर्फ एक गंदली-सी थकान और जलन थी। वह रात-भर नहीं

सोया था।

"मैं अब चलता हूँ।" उसने कहा।

"नहीं, ठहरो।" लड़की ने उसके घुटनों पर अपने हाथ रख दिये, "तुमने अभी क्या कहा ? मैं बहुत जल्दी में हूँ ?" लड़की की आंखें चुंधियां गयी थीं जैसे वह उसकी क्रूरता को ठीक से नहीं देख पा रही हो।

"मैं हँसी कर रहा था !" आदमी ने धीरे से अपना हाथ उसकी बाँह पर रखा। लड़की की समूची बाँह थरथरा रही थी।

"अगर मैं कहूँ, तुम रुक जाओगे ?"

"तुमने कभी कुछ नहीं कहा।"

"क्योंकि···" कोई फ़ायदा नहीं। वह जब-जब आदमी की परीक्षा लेती, आदमी का चेहरा दूर होने लगता। उसकी जगह अपना पाप दिखायी देने लगता, जो उससे वैसे ही प्रश्न पूछने लगता, जिन्हें वह आदमी से पूछती थी। यह चक्कर था; पाप का चक्कर, जिसका कोई अन्त नहीं था।

"क्या वह अक्सर बीमार रहती है ?" उसने पूछा। वह कभी उसकी पत्नी का नाम नहीं लेती थी, सिर्फ़ 'वह' कहा करती थी, मानो इतनी बड़ी दुनिया में सिर्फ़ एक 'वह' उसकी पत्नी हो सकती है। उसे खुशी थी, उसने उसे कभी नहीं देखा था—वह दूसरे शहर में थी और उसने वह शहर भी कभी नहीं देखा था।

आदमी चुपचाप लड़की को देखता रहा; लड़की के पीछे खिड़की थी और खिड़की के परे···छतें जहाँ उगती धूप की सफ़ेद थिगलियाँ निकल आयी थीं।

"कल रात मुझे एक सपना आया।" उसने कहा।

"कैसा सपना ?"

"मैंने देखा, तुम नीचे खड़ी हो, तुम ऊपर मेरे कमरे को देख रही हो। मैं तुम्हें आवाज देकर बुलाना चाहता था, और तुम जाने लगीं और मैं जोर-जोर से दरवाजा भड़भड़ाने लगा, नीचे आने के लिए ···"

लड़की हँसने लगी, "सच ?"

"फिर मेरी आंख खुल गयी और मैंने सुना, कोई सचमुच दरवाजा खटखटा रहा है। मैंने सोचा, शायद तुम हो, लेकिन बाहर तारवाला खड़ा

था।"

आदमी के चेहरे पर हँसी थी, लेकिन लड़की की हँसी बुझ गयी। उसे सपने में अपशगुन-सा दिखायी दिया। वह अपशगुनों के बीच रहती थी—इसलिए गिरजे में घड़ी-दो घड़ी बैठना उसे अच्छा लगता था। उसने यह बात कभी आदमी को नहीं बतायी थी, गिरजेवाली बात। यह नहीं, वह आदमी से कुछ छिपाती थी, किन्तु ईश्वर में विश्वास करना, यह उसे एक प्राइवेट किस्म की बीमारी जान पड़ती थी, जिसमें वह आदमी को दूर रखना चाहती थी। ईश्वर के इर्द-गिर्द वैसा ही अँधेरा था, जैसा उसकी पत्नी के आसपास और वह उसकी पत्नी के बारे में उतना ही कम जानती थी, जितना आदमी उसके ईश्वर के बारे में···इन दोनों को अकेले छोड़ देना ही अच्छा था।

दरवाजे पर घण्टी खनखनायी और वे दोनों चौंक गये। एक-दूसरे से अलग हो गये। वह भागती हुई दरवाजे के पास गयी, साँकल खोलकर बाहर झाँका—कोई गाहक आया था। "अभी लंच-टाइम है", उसने कहा और जल्दी से दरवाजा भेड़ दिया। लेकिन वह मुड़ी नहीं; चौखट पर खड़ी रही, बन्द दरवाजे के शीशे से खुलता हुआ दिन देखने लगी। अक्तूबर का दिन धुन्ध की परत से निकल रहा था; उसे बहुत पहले के दिन याद आये, जब वह आदमी से नहीं मिली थी; दुकान से घर अकेली जाती थी और शहर खाली-सा लगता था।

जब वह आदमी की तरफ मुड़ी, तो मुस्करा रही थी।

"कितनी दूर है ?" उसने पूछा।

"क्या ?" आदमी जाने के लिए तैयार खड़ा था।

"तुम्हारी पत्नी का शहर ?" इस बार उसने सचमुच 'पत्नी' कहा, जैसे वह उसकी दूर शहर की कोई सहेली हो।

आदमी व्यस्त-सा हो उठा—"एक घण्टा लगता है।" उसने कहा।

"कैसे जाओगे ?"

"बस से, हर घण्टे बाद बस चलती है।"

लड़की आदमी के पास आयी; ऊपर देखा, जहाँ उसकी आँखें थीं, "मैं भी चलूँ ?"

"तुम ?"

"बस-स्टेशन तक चलूंगी।"

आदमी एक क्षण उसे देखता रहा; वह सुन्न सन्नाटे के बीच खड़ी थी—जहाँ टेलीग्राम पड़ा था—और पीछे किताबों की कतार थी, जिनके भीतर जीने-मरने का ज्ञान भरा था, लेकिन जो उस क्षण न उसकी मदद कर सकता था, न लड़की की।

उसने बैग उठाया और लड़की के पास चला आया, उसके छोटे-से सिर पर अपना मुंह रख दिया। वह उससे बहुत छोटी थी और एक स्कूली लड़की की तरह सुनसान खड़ी थी; और तब उसे लगा जैसे उसकी उम्र के चालीस साल एक गँदले नाले की तरह दुकान के बीचोंबीच बह रहे हैं और बीच का पानी इतना उथला है कि वह उसमें डूबकर मर भी नहीं सकता—केवल लड़की को उसमें घसीटकर गँदला कर सकता है।

वह बाहर चला आया।

वह जल्दी से भागकर खिड़की के पास आयी; आदमी दुकान से निकलकर सड़क पार कर रहा था। वह खिड़की के लम्बे शीशे से उसे छोटा होते हुए देखती रही।

दूसरे दिन लड़की उसके फ्लैट पर गयी, यूं ही टहलते हुए, हालांकि उसे मालूम था कि वह शहर से बाहर है और मकान खाली है। वह पिछली रात को ही चला गया था। फ्लैट की डुप्लीकेट चाभी उसके पास थी, जो हमेशा उसके पास रहती थी और वह किसी भी समय उसके अपार्टमेण्ट में जा सकती थी।

किन्तु उस शाम वहाँ कोई न था। सीढ़ियाँ अँधेरे में डूबी थीं और चौकीदार का केबिन खाली पड़ा था। भीतर जाने के बजाय वह पीछे चलती गयी, ताकि दूर फासले से वह आदमी का कमरा देख सके, जो तीसरी मंज़िल पर था और जिसकी एक खिड़की पार्क की तरफ खुलती थी।

पार्क में बच्चे खेल रहे थे।

खिड़की बन्द थी। वह जाने से पहले परदा गिराना भूल गया था। शाम की धूप खिड़की के शीशों पर चमक रही थी, जिसके भीतर सबकुछ

दिखायी देता था—मेज पर रखा टाइपराइटर, दीवार पर टँगी कमीज और खिड़की के आले पर रखा गमला, जो वह बहुत दिन पहले उसके लिए लायी थी। एक बार मन भीतर जाने को हुआ, अँगुलियाँ पर्स में गयीं और भीतर रखी चाबी से खेलने लगीं—लेकिन यह ख्याल कि कमरा खाली पड़ा होगा, जैसे अँगुलियों को भी छू गया। वह मुड़ गयी और धीमे कदमों से पार्क पर चलने लगी।

पार्क के बीच पोण्ड था, *अंग्रेजी ढंग का तालाब, जिस पर* बत्तखें तैर रही थीं।

वह तालाब के साथ-साथ चलने लगी। वह सोचने लगी, लेकिन सोच का कोई ऐसा सिरा नहीं था, जिसे पकड़कर वह भीतर की गाँठ खोल सके। सारा सोच आदमी से शुरू होता था, जब वह पहली बार दुकान में आया था। वह एक साधारण-सा दिन था, लेकिन तब उसे नहीं मालूम था कि उसके साथ रिश्ता इतना असाधारण हो जायेगा कि वह दिन-रात उसके बारे में सोचा करेगी। जब वह अपनी किताबें काउण्टर पर छोड़कर चला जाता, तो वह उनके पन्ने पलटने लगती; पुरानी, भुरभुरी, अंग्रेजी की किताबें, जिन पर उसका नाम, उसके शहर का नाम और नीचे वह तारीख लिखी होती, जब उसने वे किताबें खरीदी होंगी। उन तारीखों को देखकर उसे अजब-सी हैरानी होती कि जब वह दुनिया में नहीं आयी थी, वह अपने शहर में घूमता होगा, पढ़ता होगा और जब उसका विवाह हुआ होगा वह स्कूल में पढ़ती थी'"वह मुस्कराने लगी, तभी मुझे उसकी बेटी समझते हैं, उसने सोचा। शायद इसीलिए वह दिन के उजाले में मेरे साथ चलने में कतराता है। मुझे कभी उम्र याद नहीं आती। जब वह मेरे साथ होता है, तो मुझे पता भी नहीं चलता कि वह मुझसे कितना बड़ा है। उम्र के बारे में क्या सोचना? वह रात की बर्फ है। गिरते हुए पता भी नहीं चलता, सुबह उठो तो फाटक पर ढेर-सी जमा हो जाती है।

बर्फ की बात से उसे मार्च का महीना याद आया, उस साल वह पहली बार आदमी के साथ सोयी थी; साल की आखिरी बर्फ गिरी थी और बाहर आयी, तो सारी देह सुन्न; सारा शहर बर्फ से ठिठुर रहा था। आदमी ने उसे बहुत रोका, किन्तु उसके भीतर कुछ जल रहा था, जो सारे शहर की

ख सकता था। वह चलती गयी, और जब उससे बरदाश्त नहीं हुआ, ...
स गिरजे में चली आयी जो बहुत पुराना था और खाली रहता था और जिसमें वह अक्सर जाती थी और जिसके बारे में आदमी को कुछ भी नहीं मालूम था।

वह भीतर चली आयी और सबसे आगे की बेंच पर बैठ गयी। कुछ देर पहले वह आदमी के बिस्तर पर थी और अब यहाँ? वह वहाँ क्या कर रही थी, यह उसे बहुत देर तक नहीं मालूम हो सका। सामने ऑल्टर पर एक आदमी टँगा था, पैरों, हाथों, छाती पर कीलों से बिंधा हुआ—और बहुत देर तक उसे यह भी पता नहीं चला कि वह आदमी वहाँ क्या कर रहा है? तब उसे अचानक लगा कि वह अकेली नहीं है; कोई उसके पास है, कोई बिल्कुल पास बैठा है, जिसे उसने अँधेरे में नहीं देखा था। एक बूढ़ी औरत, जो उसके साथ बेंच पर बैठी थी, गुनगुनाती हुई, प्रार्थना करती हुई, हवा में मोमबत्ती की लौ की तरह डोलती हुई; क्या वह कुछ माँग रही थी? वह ईश्वर से कुछ माँग रही थी और तब उसे हैरानी हुई कि इतनी लम्बी जिन्दगी गुज़ार देने के बाद—जब कुछ भी बचा नहीं रहता—ईश्वर से कुछ माँगा जा सकता है? वह बूढ़ी के पास सरक आयी, "सुनो, क्या यह पाप है?" उसने धीरे से बूढ़ी औरत के कानों में फुसफुसाया, "एक आदमी के साथ सोना, जिसकी पत्नी जीवित है?"

"कौन?" बूढ़ी ने उसके चेहरे को देखा, "कौन जीवित है?"

वह हँस रही थी। उसके सारे दाँत टूटे थे और खुले, पोपले मुँह ... शराब का भभका छूट रहा था; शराब और बुढ़ापे और आँसुओं से स... उसका चेहरा ऊपर-नीचे हिल रहा था।

वह भागकर बाहर चली आयी। बहुत देर तक बूढ़ी का चेहरा उ... पीछे-पीछे भागता रहा। फिर वह अचानक गायब हो गया और बर्फ गि... बन्द हो गयी। वह मार्च का महीना था, जब वह पहली बार आदमी के ... सोयी थी।

अब वह उसके घर के सामने बैठी थी। बच्चे अपने घरों को च... थे और बत्तखें? वे पता नहीं कहाँ डूब गयी थीं! तालाब अँधेरे ... था। न छप, न कुछ, न कोई आवाज़। आसपास मकानों की बत्ति...

रही थी। सिर्फ आदमी का कमरा तीसरे तल्ले पर एक अँधेरे खोखल-सा खाली पड़ा था। अब वहाँ न गमला था, न मेज, न दीवार पर लटकती कमीज़।

वह कहीं दूसरे शहर में था। वह अपनी पत्नी के साथ लेटा था। वह न जाग रहा था, न सो रहा था। वह सोच रहा था, जब वह सात महीने पहले लड़की की दुकान में आया था—और बगल में उसकी पत्नी साँस ले रही थी।

वह तीन दिनों बाद लौटा था। तीन छोटे दिन और दो लम्बी रातें, जिनके बीच लड़की घर से दुकान गयी थी, वापिस घर लौटी थी, फिर दुकान, फिर घर। एक शाम वह बस-स्टेशन गयी थी, हालाँकि उसके आने का समय उसे नहीं मालूम था; दूसरी शाम उसके घर गयी थी, और पार्क में खेलते हुए बच्चों और तैरती हुई बत्तखों को देखती रही थी। आदमी अपनी पत्नी से मिलने पहले भी जाता था लेकिन लड़की की जिन्दगी में यह पहला मौका था जब उसने उस अजीब चीज को देखा था, जो कुछ भी नहीं थी, किसी का न होना, यह भी कोई चीज है? लेकिन जहाँ वह जाती, वह चीज भी उसके साथ-साथ चलती; जब रात को लेटती, तो वह चीज भी उसके साथ लेट जाती है और जब वह सोने लगती, तो वह जागते हुए उसका सोना देखती रहती—और तब उसे समझ में आया था कि क्यों अकेले लोग गिरजों में जाते हैं, शराबखानों में, ऐसे घरों में जहाँ औरतें पेशा करती हैं और ऐसे लोग भी जो अपनी पत्नियों के साथ रहते हैं हालाँकि साथ का सुख कब का सूख चुका होता है—

लेकिन सुख लड़की को नहीं सताता था। वह उसके बारे में सोचती भी न थी। वह सिर्फ यह जानना चाहती थी कि क्या वह उस चीज के बारे में जानता है, जो वह जाने के बाद उसके पास छोड़ जाता था? क्या वह उस चीज को जानता था? कभी-कभी उसे लगता था; उसे जानता है, इसी-लिए उससे अलग होना चाहता था; किन्तु वह अलग होता नहीं था, एक अजीब गुस्से में तना रहता था, जैसे उसकी आवाज फोन में सुनायी दी थी—भर्रायी हुई, तनी हुई।

वह फोन तीसरे दिन आया था, लंच की घड़ी में, जब मैनेजर बाहर
। वह अपने केबिन में थी और टिफिनदान खोल रही थी। घण्टी सुनायी दी
ो उसके हाथ डिब्बे पर पड़े रहे। यह उसका फोन है, उसने सोचा, हालांकि
ोन की घण्टी हमेशा एक जैसी ही बजती थी। वह किताबों की अलमारियों
के बीच भागती हुई काउण्टर पर गयी, फोन उठाया, आदमी की आवाज़
सुनी और जब वापिस अपने केबिन में आयी तो उसे खिड़की के बाहर
पेड़ दिखायी दिया, सड़क दिखायी दी, सामने की दीवार पर पोस्टर दिखायी
दिया, जिसका एक सिरा उखड़कर हवा में फड़फड़ा रहा था। तीन दिनों बाद
वह अपने शहर को नये सिरे से देख रही थी।

फोन की आवाज अब भी उसके भीतर थी—एक उदास नाराज़गी में
दबी हुई। पता नहीं, वह क्यों तना था? उसने यह भी नहीं पूछा कि उसके
ये दिन कैसे बीते? तीन दिन अपनी पत्नी के साथ रहकर उस पर गुस्सा
जताना? क्या वह पागल था?

उसने जल्दी-जल्दी वे किताबें बैग में डालीं, जो वह उसके लिए जमा
करती थी, अण्डरग्राउण्ड किताबें, जिन्हें न दिखाया जा सकता था, न बेचा
जा सकता था, जो गोदाम में पड़ी सड़ा करती थीं। वह अपने पैसों से उन्हें
खरीदा करती थी और गोदाम के अँधेरे कोनों में जमा करती जाती थी।

वह उन्हें एक-एक करके अपने बैग में रखने लगी। फिर उसके हाथ
ठिठक गये; उसे लगा, वह आदमी को देख सकती है। वह अकेला अपने
कमरे में बैठा होगा। सर्दी का धुंधला दिन, टाइपराइटर और खाली, कोरे
पन्ने, जिन्हें वह जाने से पहले ज्यों-का-त्यों मेज पर छोड़ गया था।

वह उकड़ूं बैठा था। वह आग जला रहा था। वह अखबार के कागज़ों को
अंगीठी में झोंक रहा था, जिसका धुंआ ऊपर उठता था, चिमनी में जात
था, खांसने लगता था, फिर लौटकर पानी बन जाता था। आदमी बार
वार अपनी कुहनी से आंखें पोंछने लगता था।

लड़की काऊच पर लेटी थी। सिरहाने पर कुशन था, कुशन के नी
किताबों का बैग, बैग के ऊपर टिफिनदान, जिसके भीतर से सलामी अ
खट्टे दही की गन्ध आ रही थी। उसकी आंखें खुली थीं; सिर मुड़ा थ

वह आदमी की पीठ देख रही थी जहाँ उसकी कमीज पैण्ट से बाहर निकल आयी थी, नीचे झूल रही थी।

आदमी ने सिर मोड़ा तो आग की लपटें भी उठने लगीं; धुएँ के पीछे लड़की का चेहरा दिखायी दिया; डबडबाती आँखों में आग और लड़की एक-दूसरे की बाँहों में तैर रहे थे। वह उठ खड़ा हुआ। वह काऊच के सिरे पर आकर बैठ गया, जहाँ लड़की का सिर कुशन पर टिका था और पाँव नीचे लटक रहे थे। और तब उसे ध्यान आया कि लड़की के पाँव बहुत ठण्डे रहते थे, नॉयलन जुराबों के बीच सिकुड़े हुए, लड़की इतनी स्थिर थी कि पैरों का हिलना उसे धोखा-सा जान पड़ा; "ठण्ड तो नहीं लग रही?" उसने कहा।

लड़की के पैर हवा में ठिठक गये, 'नहीं' उसने सिर हिलाया।

"बस में बहुत ठण्ड थी," उसने कहा, "सड़कों पर पानी जम गया था।"

"कब पहुँचे?" लड़की ने पूछा।

"दुपहर को; तभी तुम्हें फोन किया था।"

"क्या बीमारी थी?" लड़की ने पूछा।

"खास कुछ नहीं," आदमी ने कहा।

"कुछ भी नहीं?"

"वह मुझे देखना चाहती थी।" आदमी ने अपने चेहरे पर हाथ फेरा मानो खाल की सलवटों को सीधा कर रहा हो।

"तीन दिन तक?" लड़की ने कहा।

"क्या?"

"वह तीन दिनों तक तुम्हें देखती रही?"

आदमी ने सिर उठाया, हैरत से लड़की को देखा। उसका चेहरा आग की सुर्ख गरमाई में तप रहा था। वह अजीब आँखों से उसे निहार रही थी—जैसे कुछ पूछ रही हो। आदमी ने उसका हाथ अपने हाथ में सरका लिया, सहलाने लगा; सफेद कुँआरा हाथ, जिसने अभी तक केवल सेकेण्ड-हैण्ड किताबों को छुआ था, लेकिन उनके भीतर के भुरभुरे पन्नों को नहीं पढ़ा था, जिनमें लोग विवाह करते हैं, [illegible]

हो जाते हैं, अकेले कमरों में भर जाते हैं। आदमी के भीतर एक अन्धा-सा वासना उठी, जिसका उस समय लड़की की देह से कोई रिश्ता नहीं था; उसने उसे अपने पास घसीट लिया, उसकी देह को अपने चालीस सालों के भीतर दबोच लेने के लिए और वह खिंच भी आयी—बिल्कुल एक कबूतर की तरह उसके सीने से सट गयी।

"क्या तुम उसके साथ सोये थे ?" लड़की की आवाज इतनी धीमी थी कि आदमी को भ्रम हुआ कि जो उसने सुना है, क्या वह भी भ्रम है !

"तुमने कुछ कहा ?"

"क्या तुम उसके साथ···"

आदमी ने सिर उठाया; धीरे से उसके सिर को अपने सीने से अलग कर दिया।

लड़की ने ऊपर देखा, जहाँ आदमी का चेहरा था, थकान, नींद और बीती हुई उम्र से लदा हुआ और तब उसे हैरानी हुई कि वह उससे प्यार करती है; वह जो कुछ कहेगा उसका कोई मतलब नहीं था।

अँगीठी के कोयले अब खिलखिला रहे थे।

कुछ देर बाद लड़की काऊच से उठी और कुर्सी पर बैठ गयी। टाइप-राइटर में फँसे कोरे पन्ने को देखा और फिर आँखें खिड़की से बाहर ठहर गयीं। पार्क अँधेरे में डूबा था और तालाब की जगह सिर्फ एक सफेद शीट दिखायी दे रही थी; सड़क की बत्तियाँ एक लम्बी झालर-सी शहर के आर-पार लटक रही थीं। उसने कुर्सी मेज के पास सरका ली और टाइप करने लगी, जिसे आदमी ने अनुवाद किया था। टाइप करते हुए उसे अजीब-सा सकून मिलता था, जैसे वह दो भाषाओं के बीच फैले जंगल में अकेली, निर्लिप्त और सब खतरों से मुक्त घूम रही है—जबकि पीछे काऊच पर लेटा आदमी उसे देख रहा था।

वह उसके झुके सिर को देख रहा था—जिस पर भूरे बालों का जूड़ा शिथिल-सा होकर गर्दन पर लुढ़क आया था। वह उसके अनुवाद को पढ़ती, तो होंठ हिलने लगते, फिर उन्हीं फड़फड़ाते शब्दों को जल्दी-जल्दी कागज पर टीपने लगती। वह उसकी पत्नी को भूल गयी थी। वह अब उससे अलग हो गयी थी। सिर्फ कभी-कभी सिर उठाकर किसी शब्द का मतलब पूछ

लेती थी। और वह सोचने लगता। पिछली रात वह पत्नी के साथ था और अब यहाँ; कल दुपहर के समय वह किताबों की दुकान में आयेगा, लड़की से झूठ बोलेगा, *पत्नी के पास जाकर लौट आयेगा—इसी तरह दिन* बीतेंगे। इसका कोई मतलब है ?

आदमी ने हाथ आगे बढ़ाया—धीरे से लड़की की पीठ को छुआ—और वह चौंक गयी, पीछे मुड़कर आदमी को देखा, पीले चेहरे पर दुबली-सी मुस्कराहट चली आयी।

"कुछ चाहिए ?"

"अब रहने दो, बाकी कल कर लेना।" आदमी ने कहा।

"बस थोड़ा-सा बचा है, तुम सो क्यों नहीं जाते ?"

क्या इतनी उम्र में लड़कियाँ माँ बन जाती हैं, पत्नी होने से पहले ? उसने आँखें मूँद लीं। पलकों के भीतर अँधेरे पर टाइपराइटर सिर्फ एक शब्द खोद रहा था, नींद, नींद, नींद और नींद कहीं न थी।

बहुत गयी-रात तक लड़की टाइप करती रही; वह धीरे-धीरे चैप्टर के अन्तिम अंश तक पहुँच गयी थी। कहानी के काले जंगल में जब कभी वह बीच में अटक जाती तो कभी आदमी, कभी शब्दकोश उसका हाथ पकड़कर अँधेरी खाई पार करवा देते और वह अर्थ की खुली रोशनी में आ जाती, दुबारा चलने लगती। इस तरह रेंगते हुए जब वह अन्तिम पंक्ति पर पहुँची तो कुछ देर तक फुलस्टॉप की काली बिन्दी पर ठिठकी रही, कागज के बाकी हिस्से को देखती रही जो खाली पड़ा था, उन तीन दिनों की तरह खाली, जब वह अपनी पत्नी के साथ था और वह अकेली शहर की सड़कों पर घूमती थी और तब उसे अजीब लगा कि खालीपन का मतलब न वह आदमी से पूछ सकती है, न शब्दकोश उठाकर देख सकती है।

उसने खट से कागज बाहर निकाला, टाइपराइटर को बन्द किया, कुर्सी को पीछे धकेला और बीच कमरे में आकर खड़ी हो गयी। फर्श पर किताबों की पोटली रखी थी और आदमी उससे बेखबर काउच के सिरहाने लेटा था। अचानक उसे लगा कि अगर वह जीना उतरकर नीचे चली जाय तो किसी को पता भी नहीं चलेगा।

फिर ध्यान भटक गया। खिड़की के शीशे पर रात का पतिंगा फँस गया

था, कभी ऊपर जाता था, कभी नीचे, फ्रेम से बार-बार टकराकर एक अजीब बदहवासी में छटपटा रहा था। लड़की ने झपाट से खिड़की खोल दी, पतिंगा ऊपर उठा और एक हल्की-सी जान उसके गालों को छूती हुई बाहर अँधेरे में उड़ गयी। वह कुछ देर तक खुली खिड़की से नीचे देखती रही।

अक्तूबर की धुन्ध पर बॉर की नियोन-लाइट एक लाल चिन्दी-सी चमक रही थी। अचानक एक आदमी बाहर निकला और लड़खड़ाते कदमों से सड़क पार करने लगा। वह डोलता हुआ कभी एक तरफ जाता, कभी दूसरी तरफ—शीशे पर पतिंगे की तरह डगमगाता हुआ—फिर न जाने क्या सोचकर फ्लैट की दीवार से सटकर खड़ा हो गया, बिल्कुल खिड़की के नीचे, अपने पैण्ट के बटन खोलने लगा। लड़की ने झट से खिड़की बन्द कर दी और वापिस कमरे में लौट आयी। उसने बालों को खोला, क्लिपों को उतारकर मेज पर रख दिया; फिर अपने बैग से वेसलीन की ट्यूब निकाली, अँगुली पर रखकर उसे दबाया और उसे अपने चेहरे पर, कानों से पीछे, बाँहों पर मलने लगी। अचानक उसके हाथ ठिठक गये। उसकी पत्नी भी यह करती होगी, उसके पास जाने से पहले? उसके भीतर कुछ हिला, सारी देह को मरोड़ता हुआ; उसने उसे पहले कभी नहीं देखा था—एक मैली-सी पीड़ा—जो देह में कीड़े-सी उलट जाती है, उठने को तिलमिलाती है, नीचे धँसती जाती है। एक क्षण के लिए वह आतंकित हो गयी—हलक में राख अटकने लगी; वह मुंह पर हथेली दबाकर बाथरूम में भाग आयी, बेसिनी पर दोहरी होकर झुक गयी, देह में जो कुछ उलट गया था, वह एक ही उलटी मे बाहर निकल आया, पानी में एक पीले चकत्ते-सा तैरता हुआ।

उल्टी करने के बाद उसने मुँह धोया, आँखों पर पानी छिड़का, चेहरा पोंछने के लिए जब उसने तौलिया उठाया, तो उसकी आँखें बेसिनी के शीशे पर ठिठक गयीं। वहाँ उसी बूढ़ी का पोपला चेहरा झाँक रहा था—जैसा उसने गिरजे में देखा था; लेकिन अब वह हँस नहीं रही थी; कुछ अफसोस के साथ उसे देख रही थी। वह उससे कुछ कहना चाह रही थी; लेकिन अब लड़की कुछ नहीं सुनना चाहती थी, न बीते हुए अपने पाप के बारे में, न आनेवाली जिन्दगी के बारे में···इससे पहले कि बूढ़ी अपना मुंह खोलती, लड़की उसे आईने में अकेला छोड़कर कमरे में चली आयी।

वह लौट आयी। वह काऊच के पास चली आयी, जिस पर आदमी लेटा था। उसने कमरे की बत्ती बुझा दी, किन्तु अँधेरा नहीं हुआ। आग की पीली, बुझती हुई रोशनी सब चीजों पर पड़ रही थी—टाइपराइटर, किताबों का बैग, कुशन पर टिका आदमी का सिर। उसने कपड़े उतारे, अलमारी से कम्बल निकाला, धीरे से उसे आदमी पर डाल दिया और फिर कम्बल का एक सिरा उठाकर खुद भी उसके नीचे लेट गयी।

वह इतना निश्चल लेटा था कि कुछ देर तक उसे पता भी न चला कि वह जाग रहा है या सो रहा है। सिर्फ उसकी साँस सुनायी दे रही थी—छाती के भीतर घुरघुराती हुई। उसने टटोलते हुए उसे छुआ, खुली हुई कमीज के बीच नंगी छाती को, जहाँ कुछ सफेद बाल उग आये थे—और फिर अपना सिर वहाँ टिका दिया। आदमी सिहरने लगा; एक गर्म-सी आहट उसके लहू को खटखटाने लगी; नहीं, नहीं, नहीं, उसके भीतर कोई कह रहा था; लेकिन जब उसने आँखें खोलीं, तो लड़की का सिर उसके ऊपर था, उसके बाल एक दूसरा अँधेरा थे, कमरे के अँधेरे पर बिखरे हुए, वह हिल रही थी—और कुछ देर तक आदमी को पता भी न चला कि वह रो रही है—उसकी छाती के बालों के बीच एक गर्म-सी लकीर बह रही थी।

"सुनो", आदमी ने बहुत धीरे से कहा, "मैं मरना चाहता हूँ।"

"क्या ?" लड़की ने सिर उठाया; उसकी ओर देखा। आदमी कभी-कभी उससे अपनी भाषा में बोलने लगता था, जिसे वह बिल्कुल नहीं समझ पाती थी।

"तुमने कुछ कहा ?"

वह धीरे-धीरे उसके सिर को सहलाने लगा; वह माँ से बच्ची बन गयी थी और आदमी उससे ऐसा सच बोल सकता था, जिसका अनुवाद वह कभी नहीं कर सकेगी।

कव्वे और काला पानी

मास्टर साहब पहले व्यक्ति थे, जिनसे मैं उस निर्जन, छोटे, उपेक्षित पहाड़ी कस्बे में मिला था। पहले दिन ही...मैं बस से उतर ही रहा था, तो देखा, सारा शहर पानी में भीग रहा है; भुवाली में धूप, रामगढ़ पर बादल और यहाँ बारिश—हमारी बस ने तीन घण्टों के दौरान तीन अलग-अलग मौसम पार कर लिये थे; और अब वह बाजार के बीच खड़ी थी—अपनी छत से मेरा सामान नीचे फट-फट फेंकती हुई; फटीचर सामान, जो मैं दिल्ली से ढोकर वहाँ लाया था—बाबू का एक पुराना होल्डॉल और पुराने जमाने का टीन का ट्रंक, जिस पर पुरानी यात्राओं के लेबेल मुर्दा तिलचट्टों-से चिपके थे।

मैं बीच बाजार में खड़ा था—पानी में चका डुब्ब; और मेरा सामान किनारे पर पड़ा था अपनी दरिद्रता में भीगता हुआ; पता नहीं कैसे—बारिश में शहर और आदमियों की समूची लुटी-पिटी फटेहाली अपनी थिगलियाँ खोल बाहर निकल आती हैं। सिर्फ मेरे ब्रीफकेस से लगता था कि मैं बाबू-जाति का हूँ और मैंने भी उसे सभ्यता की अन्तिम निशानी की तरह छाती से चिपकाकर रख छोड़ा था...लेकिन सिर्फ इसलिए नहीं; इसलिए भी कि उस ब्रीफकेस में वह समूचा प्रयोजन छिपा था, जिसे लेक मैं अपना शहर और घर-गृहस्थी छोड़कर उस अजनबी, पहाड़ी शहर आया था।

हिन्दुस्तान के छोटे, कस्बाई शहर वैसे ही त्रासदायी लगते हैं—अ से बारिश, ठण्ड और अंधेरा; जब बस चलने लगी तो; पागल-सा वि

आया कि लपककर उसमें घुस जाऊँ और कण्डक्टर से प्रार्थना करूँ कि मुझे दोबारा भुवाली और हल्द्वानी और दिल्ली की तरफ ले जाये…अपनी जिन्दगी की जानी और सुरक्षित रोशनी में, जहाँ न अजनबी शहर की बारिश थी, न पहाड़ी ढाबों की गन्ध—लेकिन बस रुकी नहीं—न वह मुड़ी, उसे कहीं और आगे जाना था, मैं खड़ा-खड़ा उसके पीछे की लाल सुर्ख रोशनी को देखता रहा जो बारिश की धुन्ध में एक मैले खून के धब्बे-सी दूर तक पीछे सरकती गयी।

मैंने आसपास देखा; सामने एक छोटा-सा बाजार था —मोटर रोड से थोड़ा ऊपर उठा हुआ—जिस पर तीन-चार खोखल दिखायी देते थे—पीली लालटेनों में धुंधआते हुए। सबसे निचली खोह में, बस-स्टेशन से लगभग चिपटी हुई एक चाय की दुकान थी, जहाँ दो-चार लोग टाट की छपरैल के नीचे बैठे थे, मैंने अब अपने ब्रीफकेस को छाते की तरह सिर पर रख लिया था, किन्तु मेरे टीन के सन्दूक और होल्डॉल की हालत बुरी थी; सड़क के किनारे बारिश में भीगते हुए वे मुझसे भी ज्यादा दयनीय दिखायी दे रहे थे।

मैं कुछ देर इस उम्मीद में खड़ा रहा कि चाय की दुकान में बैठा कोई आदमी जरूर मुझ पर रहम करेगा, लेकिन अब वे शायद मुझे देख भी नहीं सकते थे; बारिश की दीवार ने मुझे जैसे अचानक अपनी ओट में बाकी दुनिया से अलग कर दिया था। मेरे साथ तीन-चार सवारियाँ, जो बस से नीचे उतरी थीं, पता नहीं शहर के किस अँधेरे कोटर में गायब हो गयी थीं।

अचानक मुझे अपने सामने एक छाता दिखायी दिया, वह कुछ देर तक मेरे आगे डोलता रहा, मानो तय न कर पा रहा हो कि मैं कौन हूँ, आदमी या प्रेत? फिर छाते के भीतर से एक पीला, पहाड़ी चेहरा बाहर आया, "यह आपका सामान है?" उसने मेरे ट्रंक और होल्डॉल की ओर इशारा किया।

"जी…" मैंने कहा।

"और आप?"

"मैं?"

"कहाँ जाना है ?" उन्होंने पूछा ।

"पास में कोई होटल है ?" मैंने लगभग रिरियाते हुए पूछा ।

"होटल, यहाँ ?" उन्होंने मुझे कुछ ऐसे देखा, जैसे मैं जीते-जी स्वर्ग की कामना कर रहा हूँ ।

"कोई भी जगह रहने के लिए," मैंने कहा ।

इस बार उनके चेहरे पर हल्की-सी उत्सुकता चमक आयी ।

"कितने दिन के लिए ?" उन्होंने पूछा ।

मैं असमंजस में खड़ा उन्हें देखता रहा; जब घर से चला था, तो दिन-महीनों का कोई हिसाब नहीं जोड़ा था…मैं कुछ कह पाता, इससे पहले ही उन्होंने अपना छाता मेरे ऊपर कर दिया । पहले मैं ही भीग रहा था; अब एक छाते के नीचे हम दोनों आधा-आधा भीगने लगे ।

"एक रेस्ट-हाउस है—लेकिन आपको तीन कि. मी. ऊपर चढ़ना पड़ेगा ।"

"कोई कुली मिल सकता है ?"

"इस वक्त ?" उन्होंने बाजार की तरफ देखा, फिर मेरी तरफ—और तब सहसा कुछ सोचकर मेरे सन्दूक को हैण्डिल से पकड़ लिया ।

"चलिए, मेरे साथ आइए ।"

मैंने उन्हें रोकना चाहा, किन्तु वे मेरा सन्दूक उठाकर आगे बढ़ ग थे; मेरे पास कोई चारा नहीं था, सिवा इसके कि मैं भी अपना होल्ड उठाकर उनके पीछे-पीछे चल पड़ूँ । मुझे कुछ हैरानी हुई कि इतना दुब पतला आदमी एक हाथ में छाता, दूसरे हाथ में ट्रंक पकड़कर इतनी से ऊपर चढ़ सकता है ।

बस-स्टेशन पीछे छूट गया । बाजार की दुकानें बहुत नीचे ढुलक —और हम ऊपर चढ़ते गये; शायद यह कहना ठीक होगा कि वे ऊप गये और मैं उनके पीछे घिसटता रहा । बारिश की चहबच्चों औ में मेरे पैर बार-बार रपट जाते थे । एक बार पीछे मुड़कर उन्हों कुछ कहा, जिसे मैं नहीं सुन सका । मैं सिर्फ अपने दिल की धुकधु पा रहा था, जो हर कदम पर तेज हो जाती थी । माथे पर बह कितना पसीना था, कितनी बारिश, इसका पता चलाना भी अस

उस दिन मैं अपनी यात्रा की थकान और भीतर की बेचैनी के बावजूद अन्धाधुन्ध कितना ऊपर चढ गया था, यह सोचकर हैरानी होती है। मैं उम्र मे ही ऊपर चढा हूँ, पहाड पर नहीं; पहाड की चढाई तो दूर; घर का ज़ीना चढते ही भीतर की अलार्म घड़ी रिरियाने लगती है। जिन्दगी में पहली वार किसी अनजानी जगह आना हुआ था— अपनी इच्छा से नहीं —अपनी इच्छा होती तो देहरी के परे पाँव नहीं रखता; कम-से-कम इस जगह नहीं लेकिन वह जगह मैंने नही चुनी थी, जिन्होंने चुनी थी, मैं उन्हें ही खोजने इतनी दूर चला आया था···

"आइए, भीतर चले आइए," उन्होंने दरवाजा खोलकर मेरी ओर देखा।

पहले क्षण कुछ दिखायी नही दिया, मैं देहरी पर खड़ा था, बारिश से बचता हुआ; फिर अचानक कोई चीज़ भक से जल उठी—लालटेन की रोशनी। और तब मुझे पता चला कि वे मुझे किसी होटल या धर्मशाला मे नही, सीधे अपने घर ले आये हैं। मैं शायद कुछ देर असमंजस मे वहीं खड़ा रहता, यदि बाहर से हवा का थपेड़ा मुझे धकेलकर भीतर न ले आता।

कोई चीज है इच्छा ? शायद वह आदमी का सबसे बड़ा माया-मोह है। इच्छा जिस लाइन पर चलती है, उससे कितनी दूर छिटककर हम घिसटते हैं। वह हमें काट जाती है और हम दो मे बँट जाते हैं। मेरा एक हिस्सा घर मे पीछे छूट गया था; दूसरा उस शहर मे था, पानी और हवा में ठिठुरता हुआ—और शायद तीसरा हिस्सा भी था, जो बेबस-सा खड़ा हमें असंख्य हिस्सों में बँटता हुआ देखता है।

फिर गुस्सा आता है—नपुंसक, बेबस और रुआँसा—जब पता चलता है कि जो हमारे साथ घट रहा है, उस पर हमारी इच्छा का कोई बस नहीं है, जैसे मास्टर साहब मुझे ऊपर ले आये थे, वैसे ही आँधी का झोंका मुझे उनके घर घसीट लाया था···"अरे, बैठिए···बाहर क्यो खड़े हैं ?" उन्होंने पलँग की ओर इशारा किया; वे खुद स्टूल पर बैठे थे और अपने चीकट जूतों के तस्मे खोल रहे थे।

"मैंने आपसे होटल ले जाने के लिए कहा था," मैंने कुछ खीजकर कहा।

"अरे साहब, इसे होटल ही समझ लीजिए; इस मौसम में कहाँ जायेंगे ?" वे हँसने लगे। एकबारगी इच्छा हुई, अपना सामान वहीं छोड़-कर बाहर निकल जाऊँ। उनकी हँसी, लालटेन में हिलता उनका फटीचर कमरा, कीचड़ में लिथड़ी मेरी देह—इनका कोई मतलब था ? हाँ, क्यों नहीं, किसी ने मेरे भीतर कहा, तुम यहाँ आये हो, तो तुम्हें अपने पुराने मतलबों की गठरी छोड़नी होगी…और तब सचमुच मैंने अपने पीछे दरवाजा बन्द कर दिया। अँधेरा, बारिश, हवा सब पीछे छूट गये और मैं…

मैं भीतर चला आया।

पहली नजर में वह किसी आउटहाउस की धुँधुआती कोठरी जान पड़ती थी—बीच हवा में खुली हुई, जहाँ बादल बिना रोक-टोक के भीतर आते थे, किन्तु भीतर का धुआँ बाहर जाने में हिचकिचाता था। कमरे से सटा एक गोदाम था, जहाँ मिट्टी के तेल का स्टोव और कुछ बरतन रखे थे। वही शायद उनकी रसोई थी। कोने में पानी से भरी बाल्टी, लोटा और पटरा रखा था, जिससे पता चलता था, कि शायद वे नहाते भी रसोई में हैं—दीवार में एक चौकोर सुराख खुला था—जिसके पीछे एक छज्जा दिखायी देता था; वहाँ तार पर उन्होंने कपड़े सुखाने के लिए टाँग रखे थे, जो अब बारिश में भीग भी रहे थे।

वे स्टोव जला रहे थे। बार-बार पीछे मुड़कर मेरी तरफ देखते जाते थे, मानो उन्हें डर हो कि उनकी आँख बचाकर कहीं अचानक लोप न हो जाऊँ, लेकिन अब मैं उनके पलँग में धँस गया था, मैं कोई भारी आदमी नहीं हूँ, किन्तु मेरे बैठते ही उनके पलँग की निवाड़ धूल चाटने लगी थी… मैं पलँग पर बैठा हुआ भी फर्श से चिपका हुआ था।

वे चाय के दो गिलास लाये और सामने चटाई पर बैठ गये।

"आप पहली बार यहाँ आये हैं ?" उन्होंने पूछा।

"जी।"

"वही तो…मैं आपको देखते ही पहचान गया।"

"कैसे ?" मैंने आश्चर्य से उन्हें देखा। चाय के गर्म धुएँ में उन[illegible] लम्बा पीला चेहरा पहले कहीं देखा हो, याद नहीं आया।

"कोई मुश्किल नहीं; देखते ही पता चल जाता है, कौन यहाँ का[illegible]

कौन बाहर का। आप बस से उतरकर बारिश में खड़े हो गये, यहाँ का आदमी होता, तो सीधा अपने घर की तरफ भागता।" वे हँसने लगे। दाँत पीले पड़ गये थे, लेकिन गन्दे नहीं लगते थे, उनके पीले, मुरझाये चेहरे पर अपनी जगह फिट जान पड़ते थे।

"वैसे इस मौसम में यहाँ बहुत कम टूरिस्ट आते हैं।" उन्होंने मेरी ओर छलछलाती उत्सुकता से देखा, जैसे उनकी बात सुनते ही मैं उन्हें इस अजीब मौसम में आने का कारण बताऊँगा, लेकिन मैं चुप रहा, अपने को रोके रहा। एक बार उनके साथ आने में जो गलती की थी, अब दूसरी बार नहीं दोहराना चाहता था

"आप कब से यहाँ हैं ?" मैंने बात बदलते हुए कहा।

"पाँच साल···नहीं छह साल।" उन्होंने चाय का गिलास नीचे रख दिया और अँगुलियों पर बीते, पुराने साल जोड़ने लगे, "जिस साल शास्त्रीजी का ताशकन्द में इन्तकाल हुआ, मैं यहीं था, मुझे याद है, मैंने यह दुखदायी खबर अस्पताल में सुनी थी।"

"आप अस्पताल में थे ?" मैंने विनम्र-सी सहानुभूति दिखायी।

"जी' वैसे अल्मोड़ा में भी डॉक्टरों की कमी नहीं, लेकिन यहाँ मेरे चाचा डॉक्टर थे; उन्होंने मुझे यहीं अस्पताल में दाखिल करवा दिया। जब ठीक हुआ, तो पता चला कि यहाँ हाईस्कूल में एक अंग्रेजी टीचर की जरूरत है, बस फिर यहीं टिक गया," उन्होंने कुछ मुस्कराकर मेरी ओर देखा, "बीमारी ठीक कराने आया था, यह नहीं सोचा था कि बेकारी की समस्या भी हल हो जायेगी।"

"आपका घर यहाँ नहीं है ?" मैंने पूछा।

"आप इसे घर कहेंगे ?" उन्होंने सरसरी निगाह अपने कमरे में डाली, मानो उसे पहली बार देख रहे हों। उस शिकायतभरी निगाह में कुछ रहा होगा कि रसोई में रखी बाल्टी, टिमटिमाती लालटेन, चौके पर रखा स्टोव—और मंजी में धँसा मैं—सब कुछ एकाएक दयनीय-से हो गये।

"आपको सर्दी लग रही हो, तो आग जला दूँ ?" उन्होंने कहा।

"नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।" मैंने कहा। मैं सचमुच ठीक था, अगर ठीक का मतलब है मन्द पड़ जाना, इतना मन्द कि थकान भी सिर मारकर

पीछे मुड़ जाये। मुझे सिर्फ बाहर की चीजें दिखलायी दे रही थीं, बारिश में भीगती रात और टिपटिपाता उनका घर, और भीतर कुछ भी महसूस नहीं हो रहा था। मेरी इस रूखी उदासीनता को देखकर वे कुछ विचलित-से हो गये, मानो अपने घर लाकर उन्होंने कोई अपराध कर डाला हो।

"यहां एक फॉरेस्ट रेस्टहाउस है, अगर आप चाहें···" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"वहां परमिट की जरूरत पड़ेगी—नहीं ?"

"हां, यह तो है," उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, "लेकिन एक-दो दिन की बात हो, तो चौकीदार हील-हुज्जत नहीं करता···आपको कितने दिन रहना है ?"

इस बार उनके स्वर में भेद लेने की उत्सुकता नहीं थी, सिर्फ मेरी मदद करने की इच्छा थी, वे एकटक मेरी ओर देख रहे थे।

उस क्षण शायद मैं उन्हें सबकुछ बता देता—इतनी दूर आने का कारण, वह भी इन सर्दियों में···मेरे बिना बताये भी वे भांप गये थे कि न मैं कोई तीर्थयात्री हूं, न सैलानी-टूरिस्ट; फिर कौन हूं मैं ? और तब एक अजीब थकान और हताशा ने मुझे जकड़ लिया; मास्टरजी को यह बताने के लिए, कि मैं वहां क्यों आया हूं, मुझे अपने सारे परिवार का इतिहास बताना होगा—और उसके बाद भी क्या वे मेरे आने का कारण समझ पायेंगे ?

पता नहीं, उन्होंने आधे धुंधलके में क्या देखा—मेरा चेहरा या अधेड़ उम्र की बदहवासी—कि आगे कुछ नहीं पूछा; मुझे वहीं छोड़कर वे बाहर छज्जे पर चले गये और अपने भीगे कपड़ों को समेटकर रसोई में ले आये, और एक-एक करके उन्हें निचोड़ने लगे।

मैंने चैन की सांस ली, उनका ध्यान मेरी ओर से हट गया था, मैंने अपना बिस्तर खोलकर फर्श पर ही बिछा लिया। लालटेन मेरे सिरहाने के पास तिपाई पर रखी थी; उसकी पीली रोशनी में मैंने ब्रीफकेस के कागज बाहर निकाले···मैं उन्हें आखिरी बार देख लेना चाहता था—कुछ वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा से पहले अपने नोट्स पलटता है और अचानक सबकुछ व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ता है—जायदाद के बासी, भुरभुरे

कागज जिसे बाबू पीछे छोड़ गये और जो इस कोठरी में और भी अधिक विपन्न दिखायी दे रहे थे; उनके बीच बहुत सँभालकर तीन पत्र रखे थे—बड़े भाई और छोटी बहन की लिखावट को अलग-अलग से पहचानना मुश्किल नहीं था, किन्तु तीसरा मुड़ा-तुड़ा कागज? स्टेशन जाने से पहले माँ ने सबकी आँख बचाकर वह मुझे दिया था और मैंने उसे जल्दी बिना देखे, बिना पढ़े अन्य कागजों के बीच फेंक दिया था—माँ की चिट्ठी? वह जो होंठ फड़फड़ाते हुए कागज पर अक्षर चींथा करती थी, पता नहीं उन्होंने किस भाषा में अपना सन्देश भेजा था? मुझे उस समय भी उसे पढ़ने की इच्छा नहीं हुई; लालटेन की टिमटिमाती रोशनी में मृत पिता के कागज उतने ही मृत जान पड़ रहे थे, जितने जीवित लोगों के पत्र; यदि उन सबको मास्टर साहब के स्टोव में झोंक दूँ, तो पल-भर में हमारा मकान, घर और गृहस्थी के लोग, मरे और जीवित रिश्तों का लेखा-जोखा एक लपट में भस्म हो जायेगा''सिर्फ एक मैं रह जाऊँगा। मैं और वे—वे जिनसे मैं इतनी दूर यहाँ मिलने आया था''

सहसा मास्टरजी की छाया कागजों पर पड़ी; वे चौके की देहरी पर खड़े थे, हाथ गीले थे और कमीज की आस्तीनें बाजुओं पर चढ़ी थीं।

"लगता है, आप कोई मुकदमा लड़ने आये हैं।" वे मुस्कुरा रहे थे।

मैंने जल्दी-जल्दी सब कागज समेटकर ब्रीफकेस में ठूँस दिये; शायद वे ठीक कहते हैं, कल पेशी का दिन होगा; दस साल बाद'''पागल-सी इच्छा हुई कि अभी घर पर उनसे मिल लूँ और कल सुबह की बस से दिल्ली लौट जाऊँ किन्तु मास्टरजी ने मेरे पागलपन को बीच में ही तोड़ दिया, "चलिए, हाथ हाथ-मुँह धो लीजिए'''पानी गर्म हो गया है।"

उस रात मैं मास्टरजी के कमरे में ही सोया। मैं अपना होल्डॉल साथ लाया था, इसलिए उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई—हालाँकि पलँग को लेकर वे थोड़ा बिफर गये। वे खुद फर्श पर सोना चाहते थे और मुझे पलँग देना चाहते थे; मैं उनसे कैसे कहता कि उनकी मंजी पर डोलते हुए मुझे रात-भर भूकम्प का भ्रम होता रहेगा; मुझे डर था कि खाने को लेकर एक और भूकम्प खड़ा होगा, मेरी पत्नी ने जो टिफिन बाँधकर दिया था वह सिर्फ

बस-यात्रा के लिए नहीं, जीवन-यात्रा के लिए काफी था। मैंने उनसे कहा कि खाना बनाने के बजाय मेरे टिफिन को हल्का कर देना बेहतर होगा, ठण्डे मौसम के कारण वह इतना ही ताजा था, एक सुदूर गृहस्थी की चिन्ता में रसा-बसा भोजन, जो बारह घण्टे की चढ़ाई के बावजूद अपना शहरी स्वाद पहाड़ों तक खींच लाया था। मेरे खुले टिफिन को देखकर उनके चेहरे पर एक बीहड़-सी वीरानी उमड़ आयी—पूरी, आचार, सब्जी और पुलाव — अलग-अलग कटोरियों में सजे हुए; शायद उन्हें अपनी गलती पर पछतावा भी महसूस हुआ कि मुझ जैसे व्यक्ति पर दया करना कोई बहुत जरूरी नहीं था, किन्तु उन्होंने कहा कुछ नहीं, चुपचाप स्टोप जलाकर खाना गर्म करने में जुट गये।

उनकी रसोई जितनी साफ-सुथरी थी, कमरा उतना ही अस्त-व्यस्त था; फर्श पर धूल में अटी किताबों और पुरानी पत्रिकाओं का ढेर लगा था; कोठरी की छत धुएँ की कालिख से पुती हुई थी। दीवार पर एक रंग-उड़ी अलमारी थी, जिसकी अधखुली दराजों से कपड़े बाहर झाँक रहे थे। कमरे में कुछ वैसी ही उजाड़ यतीमी थी, जैसी धर्मशाला के कमरों में होती है। मुझे यह सोचकर कुछ भयावह जान पड़ा कि वे यहाँ दिन-रात, गर्मी-सर्दी में अकेले रहते होंगे; शायद इसी अकेलेपन से बचने के लिए वे मुझे अपने साथ ले आये थे; उन्हें मेरे बारे में कुछ नहीं मालूम था, इस बात पर मुझे उतना आश्चर्य नहीं था, जितना इस पर कि एक बार लाने के बाद उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा था कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ? तब एक अजीब-सा सन्देह मुझे कोंचने लगा, शायद उन्हें सबकुछ मालूम है। तभी तो वह बसस्टैण्ड पर पानी में भीगते खड़े थे; और मुझे देखते ही मेरे पास लपक आये, लेकिन किसने उन्हें बताया होगा? सिवा उनके, जिनसे मैं मिलने आया था; क्या किसी ने पहले से ही तो मास्टरजी को मेरे आने के बारे में सूचना नहीं दे दी थी?

"लीजिए, जल्दी खा लीजिए, नहीं तो एक मिनट में सब ठण्डा हो जायेगा।" उन्होंने मेरे टिफिन का खाना थाली मे परोसकर सामने रख दिया।

"आप नहीं खायेंगे?"

"मैं तो खाने के बाद ही बाहर निकल जाता हूँ; जब तक कुछ देर टहल नहीं लेता, ठीक से नींद नहीं आती आप खाइए।"

वे मेरे सामने चटाई पर बैठ गये, अकेले खाते हुए मुझे कुछ अजीब-सी वीरानी ने पकड़ लिया, पता नहीं, वे इस घड़ी क्या कर रहे होंगे, पत्नी शायद नीचे माँ के पास होगी और बच्चे अपने कमरों में स्कूल का काम कर रहे होंगे·· मास्टरजी की जर्जर कोठरी और धुँधुआती रोशनी में मुझे अपने घर के लोग किसी दूसरे ग्रह के प्राणी जान पड़ते थे, यह विश्वास करना असम्भव था कि अभी बारह घण्टे पहले मैं उनके साथ था···

"देखिए पानी रुक गया, कल सुबह तक सब साफ हो जायेगा।" मास्टरजी के स्वर में बच्चों का उल्लास छलक आया।

मेरे हाथ ठिठक गये; टीन की ढलुआँ छत से पानी की धार नीचे गिर रही थी, किन्तु बारिश सचमुच थम गयी, छज्जे के बाहर धुन्ध अब भी थी, लेकिन इतनी हल्की और इकहरी—कि उसके पीछे धुले हुए तारे चमचमा रहे थे।

"आपका स्कूल कहीं पास में है?" मैंने पूछा।

"मैं आपको बताना भूल गया। आप दरअसल स्कूल में ही बैठे हैं," वे मुस्कुराने लगे।

"यह स्कूल है?" मैंने विस्मय से चारों ओर देखा।

"जी, यह स्कूल का ही हिस्सा है। मुझे अभी तक मकान नहीं मिला, इसीलिए उन्होंने स्कूल का एक कमरा मुझे दे दिया; वैसे भी छुट्टियों में सारे कमरे खाली पड़े रहते हैं···"

"आप छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?"

"एक-आध दिन के लिए अल्मोड़ा उतर जाता हूँ, लेकिन वहाँ मेरा मन घुटता है; वहाँ पुराने लोग आ घेरते हैं, जिनसे मैं बचना चाहता हूँ।"

"यहाँ अकेला नहीं लगता?"

वे कुछ देर चुप रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, "यहाँ अकेला रहता हूँ तो भी वैसी ऊब नहीं होती जैसी अल्मोड़े में—फिर जब मन करता है, तो बाबा के पास जा बैठता हूँ।"

"बाबा कौन ?"

उन्होंने मेरी ओर देखा, अपनी टोहती आँखों से, फिर एक छोटा-सा मुस्कुराहट उनके चेहरे पर फैल गयी, "एक ही तो हैं, और कौन ?"

इस बार मैं अपने को नहीं रोक पाया, "क्या उन्होंने आपसे कुछ कहा था ?"

उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, "किस बारे में ?"

"मेरे यहाँ आने के···"

"क्यों ? आप उनसे मिलने आये हैं ?" इस बार उनकी आँखों में विस्मय था।

"सुना है, बहुत दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने आते हैं।" मैंने कहा।

"हाँ···लेकिन इस मौसम में ?" वे फैली आँखों से मुझे निहार रहे थे।

"मैं यहाँ छुट्टी पर आया था; सोचा, उनके दर्शन भी कर लूँ। क्या बहुत दूर रहते हैं ?"

वे कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे, फिर अनमने भाव से बोले, "ज्यादा दूर नहीं···एक-डेढ़ कि. मी. की चढ़ाई होगी।"

मुझे लगा, वे मुझसे कुछ नाराज हैं; शायद उन्होंने मुझ पर विश्वास भी नहीं किया; कौन ऐसा पागल है जो सर्दियों में अपना घर-बार छोड़कर इतनी दूर आता है—और वह भी एक अज्ञात पहाड़ी शहर के लोकल महात्मा से मिलने ?

वे उठ खड़े हुए और मेरे बरतन बटोरने लगे। कुछ देर तक रसोई में लोटे-बाल्टी की खनखनाहट के अलावा कुछ सुनायी नहीं दिया।

फिर उस रात उनके बारे में कोई चर्चा नहीं हुई।

सोने की तैयारी भी चुपचाप हुई; उन्होंने दोबारा और अन्तिम बार जरूर आग्रह किया कि मैं उनके पलंग पर सो जाऊँ, लेकिन मैं पहले से फर्श पर अपना होल्डॉल बिछा चुका था और फिर वे भी चुप ही रहे, सिर्फ इतना पूछा कि क्या वे लालटेन जलाकर पढ़ सकते हैं और वे देर तक कोई अंग्रेजी का उपन्यास पढ़ते रहे, जिसके लेखक का नाम मैंने कहीं पढ़ा-सुना नहीं था।

मैं ब्रीफकेस को सिरहाने रखकर लेट गया, लेकिन नींद देर तक नहीं आयी। इतनी लम्बी जिन्दगी में यह पहला मौका था कि किसी अजनबी के घर मैंने रात काटी हो, और वह सचमुच रात को 'काटना' था, जहाँ एक तरफ मैं था, दूसरी तरफ मेरा घर-बार, नौकरी, गृहस्थी, जिसे मैं पहली बार छोड़कर अकेला बाहर आया था। मेरी पत्नी को पता चलता कि घर छोड़ते ही मैं पहला पड़ाव किसी स्कूल-मास्टर की कोठरी में डालूँगा, तो उसे सचमुच हैरानी होती। वह मुझे हमेशा घर-घीसू कहती थी और उसे हमेशा यह सदमा सताता था कि इतनी लम्बी विवाहित जिन्दगी में मैं कहीं उसके साथ यात्रा पर नहीं गया, कामचलाऊ सफर बहुत किये, किन्तु छुट्टी लेकर किसी तीर्थ स्थान या पहाड़ी स्टेशन जाना नहीं हुआ।

और अब यह जगह? पहाड़, लेकिन हिल-स्टेशन नहीं और तीर्थस्थान के नाम पर पशुओं का अस्पताल; एक शिव का मन्दिर, जहाँ वह रहते थे··· क्यों—अब भी रहते हैं। मुझे अजीब-सा लगा कि दिल्ली की आदत अब भी मेरे साथ चिपकी थी, जहाँ सब लोग उन्हें 'अतीत' में याद करते थे। ज्यों ही कोई व्यक्ति हमें छोड़कर चला जाता है, हम उसे 'अतीत' में फेंककर बदला चुका लेते हैं, बिना यह जाने कि वह अब भी मौजूद है, जीवित है, अपने वर्तमान में जी रहा है, लेकिन हमारे समय से बाहर है।

उस रात मुझे देर तक नींद नहीं आयी। हवा के थपेड़ों से कोठरी की छत और दीवारें थरथराने लगती थीं; नीचे मोटर-रोड पर कोई बस या लारी गुजरती, तो उसकी हेडलाइट्स में फँसे पेड़ और झाड़ियाँ दीवार पर सरकते हुए निकल जाते। पहियों की घुरघुराहट देर तक पहाड़ियों के बीच गूँजती रहती। कभी किसी बस के गुजरने के बाद मास्टर साहब किताब से सिर उठाकर घड़ी को देखते और लम्बी साँस खींचकर कहते, "यह भुवाली की बस है," या कुछ देर बाद जब दोबारा बस की पों-पों बजती, तो कहते, "यह रामनगर जा रही है।" मैं आँखें मूँदे सोने का बहाना किये पड़ा रहा, फिर न जाने कब यह बहाना किसी नींद के सपने में उलझकर दूर तक घिसटता गया। आधी रात को आँख खुली, तो लालटेन बुझ गयी थी और मास्टर साहब करवट लेकर सो रहे थे; समूची कोठरी में अंधेरा था; एक लम्बे क्षण तक मुझे याद नहीं आया कि पास पलंग पर कौन सो रहा है और

मैं वहाँ क्या कर रहा हूँ ?

सुबह उठा तो धूप का चकत्ता बिस्तर पर बैठा था। ठण्डी, घुली हुई रोशनी कोठरी में फैली थी। मास्टरजी की मंजी खाली पड़ी थी—रसोई में पानी की बाल्टी और लोटा रखे थे। चूल्हे के पास चाय का सामान था; बाहर हवा में थपथपाती खट-खट की आवाज आ रही थी—शायद उसकी आवाज सुनकर ही मैं जाग गया था।

घड़ी देखी, तो अचरज हुआ—दस बजे थे; शायद ही कभी मैं इतनी देर तक सोता हूँ। जल्दी-जल्दी हाथ-मुंह धोया; थर्मस और गिलास थैले में रखे, ब्रीफकेस को खोलकर चिट्ठियाँ बाहर निकालीं, जिनमें पोस्टकार्ड भी था, जो उन्होंने पन्द्रह दिन पहले भेजा था; उन सबको समेटकर कोट की अन्दरूनी जेब में रखा। मास्टरजी को देखने बाहर आया तो आँखें जिस चीज पर पड़ीं, वह पहाड़ था।

पहली बार ज्ञान हुआ कि यह पहाड़ है; सड़क पर चलता पहाड़ नहीं, जो कल बस की खिड़की से देखा था—लेकिन एक जगह ठहरा हुआ, बाजार के ऊपर, शहर को छाँह देता हुआ; कल अँधेरे और बारिश में उसे नहीं देखा था। अब पहली बार विश्वास हुआ कि मैं घर के बाहर हूँ; यह महज यात्रा का स्टेशन नहीं, पूरी जगह है; एक अलग-थलग दुनिया, वह एकान्त जंगल नहीं था, जैसा मैं दिल्ली में सोचा करता था, वह एक पूरी बस्ती थी; जहाँ बाजार था, बस का स्टेशन, अस्पताल, एक मन्दिर, एक स्कूल···

स्कूल मैदान में था, बाजार के ऊपर और नीचे पेड़ों का पीला झुरमुट था। और वहीं टहनियों के बीच अकस्मात दिखायी दिये मास्टरजी···और तब मुझे उस खट-खट का रहस्य समझ में आया; वह कुल्हाड़ी से पेड़ों की शाखें काटते जाते थे और टहनियाँ छगाछप करती हुई नीचे गिर जाती थीं···

मैं उसी पगडण्डी से नीचे उतरने लगा, जिसके सहारे कल ऊपर चढ़ा था। धीरे-धीरे बाजार की छतें दिखायी देने लगीं, साँवले, सलेटी पत्थरों से ढकी धूप में चमचमाती हुईं; लोगों का शोर और दुकानों का धुआँ एकसाथ ऊपर उठ रहे थे। बाजार के नाम पर कुछ भिनभिनाते ढाबे थे; वहीं मैं एक बेंच पर खुली हवा में बैठ गया; धूप सिर्फ माया थी, असली ब्रह्म सर्दी में व्याप रहा था; मैंने एक चाय माँगी, तो दूसरी बेंच पर दो आँखें ऊपर

उठी, केसर-सी लाल और मस्ती में घुत' "साहजी, बस एक ही ?"

नंग-धड़ंग महात्मा मेरी ओर निहार रहे थे।

मैंने दूसरी चाय मँगवायी, तो वे मुस्कराये, दाँतों के बीच लाल मसूढ़े दाढ़ की कटी फाँक से खुल गये।

"कल ही पधारे हो ?"

"जी।"

अब तक वह दूसरे ढाबे की बेंच पर बैठे थे, मेरे 'जी' कहते ही वह अपनी मेज का मोह त्यागकर मेरी बेंच पर आ विराजे, "क्यों, हमारे मास्टर के यहाँ ठहरे हो ?"

वे अन्तर्यामी जान पड़े, मुझे लगा, उनके सामने 'जी' कहने के अलावा मैं और कुछ नहीं कह सकूँगा। उसके बाद अगर वे यह बताते कि मैं दो बच्चों का बाप हूँ और दिल्ली से आया हूँ तो भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। किन्तु उसके बाद वे एकदम चुप्पी साध गये; चाय पीने में ऐसे मगन हो गये जैसे सिर्फ उसी को पाने के लिए उन्होंने परिचय बोया था।

"आप कहाँ से आ रहे हैं ?" कुछ देर बाद मैंने ही पूछा।

चाय के गिलास को बेंच पर रखकर उन्होंने कुहनी से अपनी दाढ़ी पोंछी।

"यह पूछिए, कहाँ जा रहा हूँ; यहाँ तो सिर्फ कुछ दिनों के लिए ठहरा हूँ।" उनकी सुर्ख आँखों में एक रूखी-सी लापरवाही झलक आयी।

"कहाँ डेरा लगाया है बाबा ने ?"

उन्होंने अँगुली से ऊपर इशारा किया; पहले मैं 'ऊपर' का मतलब ईश्वर समझा, लेकिन सौभाग्य से उनकी अँगुली ईश्वर से कुछ नीचे बैठी, बाजार के पीछे पहाड़ी गोमड़ पर, जो धुन्ध और धूप के झिलमिले से बाहर निकल रहा था।

"शिव के मन्दिर में ?" पहली बार मेरे भीतर एक जिज्ञासु उत्सुकता जागी।

"शिव नहीं, महाकाल का मन्दिर कहिए," उन्होंने हल्की हिकारत से मुझे देखा, "कभी वहाँ नहीं गये ?"

"मैं पहली वार आया हूं।"
"पहली वार ?" वे हँस पड़े, "आपको कैसे मालूम, आप पह
रहे हैं...पहली वार कुछ नहीं होता..."
"मैंने आपको भी पहली बार देखा है।" मैंने कहा।
"सचमुच ?" उन्होंने मेरी ओर देखा, "और इसको ?" उन्होंने पाइन
की ओर इशारा किया जो सड़क के किनारे नीचे खड्ड से ऊपर उठा था, हव
में डोल रहा था।
"पेड़ ?" मैंने जिज्ञासा से उन्हें देखा, "इसमें क्या है ?"
"और मैं ?" उन्होंने लँगोट से बीड़ी निकाली और भट्ठी के सुल
हुए कोयले पर उसे लगा दिया, "मुझमें क्या है ?"
बीड़ी सुलग रही थी और धुएं की तीखी लट ऊपर उठ रही थी।
मैंने उसकी नंगी देह को देखा, एक-एक हड्डी सर्दी की सफेद धूप में
चमक रही थी, ठिठुरती, कृशकाय देह नहीं, वल्कि ऐसा पिंजर जो देह को
अपनी ठठरी-गठरी में गरमाये रखता है...नहीं, मैंने उन्हें पहले नहीं देखा
था, लेकिन उन्हें देखते हुए मुझे अचानक अपने पिता की अस्थियां याद हो
आयीं, जिन्हें गठरी में बांधकर मैं दिल्ली से कनखल ले गया था—जैसे अगर
रेल की खड़खड़ाहट में उनकी अस्थियां जुड़ जातीं, तो वे सामनेवाली देह
की तरह एक वार फिर उठकर खड़ी होतीं...और तब मुझे लगा, चेहर
पहले न भी देखा हो, किसी का होना उसकी याद दिला सकता है, जो पहले
कभी जीवित था और अब नहीं है।
"घूमने आये हो ?" उनकी तरेरती आंखें मुझ पर टिकी थीं। मुझे
देखकर वे कुछ आगे सरक आये, "वावा के दर्शन करने आये हो—क्यों
कहा ?"
"जी ?" मैंने उनकी ओर देखा।
"रास्ता मालूम है ?" उन्होंने पूछा। इस बार उनके स्वर में न
थी, न चिड़चिड़ाहट, सिर्फ एक मुलायम-सी नम्रता थी।
"मन्दिर के रास्ते पर है," उन्होंने कहा, "सीढ़ियां छोड़कर
पकड़ लेना; सीधी वहीं जाती है।"
"इस समय दर्शन देंगे ?" मैंने पूछा।

"देख आओ, अगर बाहर बैठे हुए तो दर्शन होंगे ही लेकिन भीतर हुए तो रहने देना···आजकल थोड़ा बीमार चलते हैं।"

"बीमारी कैसी ?"

मेरे स्वर मे कुछ रहा होगा कि वे झुंझला उठे। अधबुझी बीड़ी को फेंक दिया, "बीमारी क्या, अन्दर की अवस्था है, बनती-बिगड़ती रहती है।"

उनके स्वर में कुछ ऐसा नहीं था, जो मुझे विस्मित करता; किन्तु थोड़ी-सी हैरानी जरूर हुई; अपनी चिट्ठी में उन्होंने बीमारी के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा था; क्या उन्हें डर था कि मैं अपने साथ माँ को घसीट लाऊँगा; मुझे उनके डर पर हँसी आने लगी···वे जो घर की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकतीं, बस मे धक्के खाते हुए 2100 मी. की ऊँचाई पर आयेंगी ?

उसके बाद मैंने उनसे कुछ नही पूछा। बेंच से उठ खड़ा हुआ; अघोर बाबा ने कुछ आश्चर्य से मुझे देखा, "क्या अभी जा रहे हो ?"

"जी···ऊपर पहुँचने में कितनी देर लगेगी ?"

"पूरी उम्र !" वे हँसने लगे, "लेकिन तुम भटके नही तो आधे घण्टे में पहुँच जाओगे !"

मैंने दुकान से अपने थर्मस में पानी भरवाया। जब चाय के पैसे देने के लिए बटुआ निकाला तो सहसा उनकी आवाज सुनायी दी, "तीन गिलासों के; मैं एक और लूँगा।" मैंने पीछे मुड़कर भी नही देखा, पैसे दिये और ऊपर चढ़ने लगा।

चढ़ाई खड़ी हथेली की तरह उठी थी; चारों तरफ जंगल थे, लेकिन सड़क पर एक पेड़ नही जो छाया दे सके। पहाड़ी पसीना [illegible] देह पर बह सकता है, ऐसा कभी सोचा भी न था। मुझे अपने [illegible] डर था और दिल की धुकधुकी अलग से छाती को [illegible]

बाजार बहुत नीचे छूट गया था, लेकिन उनकी [illegible] हॉर्न अब भी एक उनींदी गुनगुनाहट की तरह [illegible] बाद वे आवाजें भी गुम हो गयीं···और मुझे [illegible] कोई नही है—न जानवर, न हवा, न [illegible] तरह चलता जाऊँ तो न मैं खत्म होऊँ [illegible]

तरह ऊपर चढ़ता रहूँगा पसीने में नहाया हुआ, न कुछ देखता हुआ, न सोचता हुआ—लेकिन तभी पांव ठिठक गये, जैसे मुझसे कह रहे हों, अगर तुम निढाल हो तो हमें कोई परवाह नहीं।

आगे एक तिराहा था, उठी हुई हथेली पर तीन अँगुलियों की तरह खुला हुआ; दायीं पगडण्डी पर काला बोर्ड दिखायी दिया, जिस पर सफेद खड़िया से एक तीर बना था और तीर की नोक से विंधे चार अक्षर मेरी तरफ ताक रहे थे—टू द फॉरेस्ट रेस्ट हाउस। और तब मुझे अघोरी बाबा की अँगुली याद आयी—ईश्वर की तरफ उठी हुई, जहां महाकाल का मन्दिर था; अगर नीचे की पगडण्डी फॉरेस्ट हाउस की तरफ जाती है, तो बीच की सड़क जरूर मन्दिर की ओर चढ़ती होगी···मैंने वही बीच का रास्ता पकड़ लिया। वह रास्ता भी नहीं था, सिर्फ एक उठान थी।

शायद बहुत पहले वहां सीढ़ियां रही होंगी, लेकिन अब वहां सिर्फ पत्थर थे, काई और घास में लिथड़े हुए, उन पर पांव रखते ही जूते फिसलने लगते। हर पत्थर पर सांस अटकने लगती, एक रस्सी की तरह मेरे पैरों को ऊपर खींचती और जब मैं दूसरा कदम उठाता तो लगता जैसे मैं अपने पीछे सारी उम्र का बोझ घसीट रहा हूँ। लेकिन वह बोझ उसके सामने कुछ भी नहीं था, जो मैं लादकर अपने साथ लाया था—घर के कागज और घरवालों के सन्देशे। उन्हें ढोता हुआ मैं खुद अपनी यात्रा का लदा-फदा सन्देशा जान पड़ता था; मुझे तब एक अजीब-सा खयाल आया; अगर उन तक सन्देश पहुँचाना है तो मेरा जाना क्यों जरूरी है? मैं यदि सारे कागज-पत्तर, चिट्ठी-सन्देशे मास्टर साहब को सौंपकर शाम की बस से लौट जाऊं, तो कोई भी अन्तर नहीं पड़ेगा। वे उन्हें सुरक्षित उनके पास पहुँचा देंगे—फिर वे जैसा चाहें, करें। लेकिन इतने पास पहुँचकर ऐसे ही रूखे-सूखे लौट जाना? वे दस साल से यहां रह रहे हैं और मैं पहले ही दिन इतना हताश हो गया? वे भी तो पहले दिन ऐसे ही ऊपर चढ़े होंगे; लेकिन उनकी उम्र तब काफी कम रही होगी; मुझे अब भी उनकी फोटो याद है, जो पिताजी ने (तब वे जीवित थे) अखबारों में दिया था—एक हँसता हुआ चेहरा, जिसे अंग्रेजी में चियरफुल कहा जाता है···और फोटो के नीचे बाबू के हाथ का लिखा टेक्स्ट—'प्लीज कम···' लेकिन न वे आये, न अपना पता भेजा और

तब स्टेशन और अस्पतालों के चक्कर शुरू हुए…पुलिस के साथ मॉर्चुअरी में जाते मुर्दों की कतार में उन्हें पहचानने की कोशिश करते, जो एक दिन सहसा पहचान के परे चले गये थे…

अचानक, बीच रास्ते में मैं ठिठक गया। क्या अब मैं उन्हें पहचान सकूँगा?

सिर का पसीना माथे पर बहता हुआ आँखों पर चिर-चिर चूने लगा, वह जैसे पानी का पर्दा था, जिसके पीछे सारा जंगल झिलमिला रहा था। आखिर वह मन्दिर दिखायी दिया—सफेद और शीतल—और उसकी शीतलता मेरी थकान को सोखने लगी। हवा में पसीना सूखने लगा—मैं वहीं, सीढ़ियों पर बैठ गया। आसपास बिलकुल सन्नाटा था—न कोई भक्त, न पुजारी, न कोई साधु-संन्यासी—सिर्फ मन्दिर की बगल में बाँज के डोलते बाजू पर एक लंगूर बैठा था, अपनी मीटर-भर लम्बी पूँछ को हिलाता हुआ; उसने एक क्षण मेरी ओर घूरा और फिर छलाँग से मन्दिर की छत पर कूद गया। एक छपाक् और, पेड़ की सर-सर और कुछ भी नहीं, जंगल की अथाह नीरवता में जैसे मैं और वह लंगूर एकसाथ उस महाकाल के शरणार्थी हों; कभी-कभी जानवर देवताओं की तरह अचानक हमारी दुनिया में प्रकट होकर हमारी सब दुविधाओं को झाड़ देते हैं। उस लंगूर ने भी जैसे अपनी पूँछ से मेरे सब संशयों को बुहार दिया—और अब मैं आगे बढ़ा, तो सहसा मेरे पैर हल्के हो गये थे।

उसके बाद ज्यादा नहीं चलना पड़ा; चढ़ाई खत्म हो गयी थी और पेड़ों के बीच एक साफ-सुथरी, समतल पगडण्डी चलने लगी थी। आगे-पीछे चीड़ों का हरा समन्दर लहरें खाता था—झर-झर सुइयाँ नीचे गिरती थीं, और एक सूखी, नशीली गन्ध ऊपर उठती थी। अघोरी बाबा की बात सच निकली; सौ मीटर चलने के बाद मैं एक खुली, सपाट जगह पर चला आया जो घने जंगल में अचानक खुल जाती है—एक सूना, खाली-सा मैदान जहाँ सिर्फ घास और पत्थर थे; मैं कुछ आगे बढ़ा ही था कि बायीं तरफ एक चट्टान दिखायी दी…किन्तु दूसरे क्षण ही अपनी गलती पता चली और मेरे पाँव अपने-आप ठिठक गये।

ह चट्टान नहीं, एक पथरीला ठठ्ठर था, जिसका ऊ...
क गुफा की तरह, जिसका ऊपरी खण्ड पहाड़ी से चिपका था और
ला हिस्सा धरती में धँसा था; बीच में तीन पत्थर एक-दूसरे के ऊपर
थे, ऊपर काठ का दरवाजा था। एक चित्र-पहेली की तरह पहली नजर
ो चट्टान जान पड़ी थी—अब वह एक कोठरी दिखायी दे रही थी; काठ,
ट्टी और पत्थर की इमारत, जिसे देखकर पता नहीं चलता था कि उसका
ौन-सा हिस्सा आदमी ने बनाया है और कितना सिर्फ प्रकृति का अंग है...
या यह सम्भव है कि वहाँ कोई रहता होगा ?

मैं पास आया; सफेद पत्थरों की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ दरवाजे के आगे ठहर गया; लकड़ी के दो पल्लों पर खुली साँकल लटक रही थी, भीतर कोई आहट, कोई हलचल नहीं थी; दरवाजे के भीतर सँकरे सुराख से मैंने भीतर झाँका—पहले क्षण कुछ भी दिखायी नहीं दिया; अँधेरे पर सिर्फ एक सफेद झाईं-सी गिर रही थी; वह कहीं बाहर से आ रही थी—लेकिन भीतर कोई खिड़की दिखायी नहीं दी और तब मुझे पता चला कि जिस सुराख से मैं झाँक रहा हूँ, वहीं से रोशनी भी आ रही है—धूप का मैला धब्बा—जिसे सूरज वहाँ फेंक गया था और फिर उठाना भूल गया था...

वे शायद सो रहे थे; या सिर्फ बीमार थे और कहीं नीचे लेटे थे; सम्भव है, उन्हें मेरी चिट्ठी भी न मिली हो; उन्हें शायद यह भी नहीं मालूम कि मैं यहाँ हूँ। वे शायद कल शाम से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों और अब सोच लिया हो कि किसी कारण मेरा आना टल गया...यह सोचना था कि मेरा हाथ साँकल पर चला गया—गर्म काठ के दरवाजे पर साँकल हिल रही थी, मेरे अनजाने छूने से या भीतर दरवाजे के खुलने से, यह सोचना भी व्यर्थ था, क्योंकि दूसरे क्षण ही फटाक् से दरवाजा खुल गया—वे खड़े थे मुझ बहुत ऊपर और मैं एक सीढ़ी नीचे उतर आया, जैसे आखिरी क्षण में उन बचना चाहता था, लेकिन यह भी सम्भव है कि डर की जगह केवल उत्सुक थी, जो मुझे एक सीढ़ी नीचे घसीट लायी थी, ताकि मैं उन्हें पूरा देख जैसे कुछ पीछे हटकर दीवार पर टंगी तसवीर को पूरा-का-पूरा दे चाहता हूँ। लेकिन इस बीच उन्होंने मेरे हाथ को पकड़ लिया और लगा, वे मुझे ऊपर खींच रहे हों, जबकि मैं नीचे जा रहा था औ

खींचतान में मेरा ब्रीफकेस हाथ से छूट गया, सीढ़ियों पर लुढ़कता हुआ ठक् से नीचे आ गिरा, और गिरते ही उसने एक हिचकी में अपने भीतर के बोझ को बाहर उगल दिया। कागज, चिट्ठियाँ, मकान के दस्तावेज— सब एक-एक करके बाहर निकल आये और हवा में उड़ने लगे। शर्म में बौखलाया अपने को कोसता हुआ मैं सीढ़ी पर ही बैठ गया और जल्दी-जल्दी उन्हें बीनने लगा। वे भी मेरे साथ नीचे बैठ गये थे और कागजों को चुन-चुनकर मुझे दे रहे थे और मैं जल्दी-जल्दी उन्हें ब्रीफकेस में ठूँस रहा था, बिना कुछ देखे, मैली-सी बदहवासी में, जबकि उन्होंने अपना हाथ मेरे उठे हुए घुटने पर रख दिया, जो पता नहीं कब से काँप रहा था।

सहसा मैंने देखा; उनका चेहरा नहीं, सिर्फ उनके हाथ, दस वर्ष बाद पहली बार उनके हाथ दिखायी दिये।

कितनी देर हम ऐसे बैठे रहे ? धीरे-धीरे सिर उठाया, तो वे दिखायी दिये ! वही चेहरा —मुझे निहारती आँखें—मैं यह भी भूल गया कि उन्हें दाढ़ी में पहले कभी नहीं देखा था, सफ़ेद-कानी छितरी हुई लटों में वे संन्यासी और भाई के बीच कोई पहचाने-में अजनबी जान पड़ते थे।

लेकिन घुटने पर रखा उनका हाथ ? उसमें बीता हुआ घर था, और समूचा जमा हुआ अतीत—जो ज़रा-सा छूने पर बूँद-बूँद बहने लगता है।

वे थोड़ा-सा नीचे झुके, सीढ़ी पर रखे ब्रीफकेस को उठा लिया; "आओ, भीतर बैठेंगे !"

मैं उनके पीछे कोठरी के भीतर चला आया।

"बैठो," उन्होंने धीरे से मेरे कन्धे को छुआ। मैंने असमंजस में उन्हें देखा।

"इधर," उन्होंने दरी की ओर इशारा किया और स्वयं दीवार के सहारे बैठ गये। कुछ मिनिट इसी तरह बीत गये; वे मेरे सामने थे; मैं उनकी कुटिया में था, इन सबके रहते भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि मेरी यात्रा का अन्त आ पहुँचा है।

"आपको मेरा कार्ड मिल गया था ?"

"हाँ, लेकिन तुम्हें तो कल आना था।"

"मैं कल ही आया था—बस तीन घण्टे लेट थी।"

"कहाँ ठहरे हो?"

"मास्टरजी के यहाँ; वे ही मुझे अपने साथ घर ले आये।"

इच्छा हुई, उनसे पूछूँ, क्या उन्होंने ही मास्टरजी को बस-स्टेशन पर भेजा था; लेकिन उनके नीरव, निर्व्यक्त चेहरे को देखकर चुप रह गया। उनके आसपास एक घेरा था; मैं उतना ही पास आ सकता था, जितना वे आने देते थे—कुछ देर पहले देहरी पर उनकी छुअन से जो कुछ भीतर पिघला था, वह सिर्फ एक सतह थी—नीचे की सारी परतें सूखी पड़ी थीं। शायद इस सूखे से बचने के लिए ही उन्होंने मौन तोड़ा।

"यहाँ आने में कोई मुश्किल तो नहीं पड़ी?"

"नहीं···सीधा चला आया; बाजार में चाय पीने बैठा, तो एक बाबा मिल गये···उन्होंने सबकुछ बता दिया।"

"सबकुछ?" उनके चेहरे पर हल्की-सी जिज्ञासा चमक आयी, "और क्या कहते थे?"

"कुछ और नहीं···" मैंने एक क्षण उनकी ओर देखा, "क्या आप इन दिनों कुछ बीमार रहते हैं?"

"उन्होंने बताया होगा? कुछ खास नहीं···वही पुरानी साँस की तकलीफ है; इन दिनों कुछ ज्यादा बढ़ जाती है।" उन्होंने कुछ ऐसे कहा, जैसे बीमारी का कष्ट कुछ भी हो, उसके बारे में बताना ज्यादा कष्टमय हो।

"इतनी ऊँचाई पर रहने के कारण तो नहीं है?"

उन्होंने सिर हिलाया, "तुम्हें याद होगा, जब घर में था, तब भी बराबर रहती थी।"

घर का नाम पहली बार आया था। हमारे बीच आकर चुपचाप बैठ गया था। कुछ देर उनकी आँखें मिची रहीं; बाहर एक तिनका भी गिरता तो उसकी आहट भीतर सुनायी दे जाती थी।

"सब वहाँ ठीक है?" एक रूखी साँस में उनका स्वर निकला; घर को न छूता हुआ, फिर भी आसपास मँडराता हुआ···

"जी, हाँ," मैंने कहा।

"अब तो नीचे की मंजिल खाली होगी ?"

"क्यों, खाली कैसे ?" मैं तुरन्त उनका मतलब नहीं समझ सका; "माँ रहती हैं।" वे कुछ देर हैरत से मुझे देखते रहे। "अकेले ही ?" उन्होंने कहा।

"जी।"

"वे ऊपर तुम्हारे पास नहीं रहती ?"

"जी नहीं···वे नीचे ही रहती हैं ?"

वे मेरी तरफ इस तरह देखने लगे, जैसे पिछले दस साल में जो गुज़रा-बदला है, वे उसे नहीं जानते···हालाँकि मैंने चिट्ठी में उन्हें सबकुछ लिख दिया था। किन्तु उन्होंने अपनी आँखों से कुछ नहीं देखा था; और मैं जो सबकुछ जानता था, पहली बार उनकी नजरों से अपने घर को देखने लगा और तब मुझे उनका आश्चर्य समझ में आने लगा—जिस औरत के तीन लड़के हों, वह मकान के अलग, अकेले कोने में पड़ी रहे, एक अजनबी के लिए इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ?

बाहर पेड़ों के बीच झनझनाहट हुई; कोई छत पर कूदा और खटाखट दौड़ता चला गया; फर्श पर मिट्टी झरने लगी। वे उठ खड़े हुए और दरवाजे के बाहर चले गये। कुछ देर में उनकी आवाज सुनायी दी—एक बार, दो बार—पहाड़ी सन्नाटे में वह ऊपर उठती थी और फिर अपनी ही गूँज को सहलाती-सी गुम हो जाती थी।

वे भीतर आये तो मैंने पूछा, "कौन था ?"

"लंगूर", वे मुस्कुरा रहे थे, "मन्दिर से उतरकर यहाँ धूप सेंकने आते हैं···तुम अभी मन्दिर तो नहीं गये ?"

"नहीं···सुना है, बहुत पुराना है ?"

"मन्दिर तो बहुत पुराना नहीं है किन्तु उसमें रखी शिव की मूर्ति को काफी पुराना माना जाता है। वह यहीं पहाड़ी पर जमीन में धँसी हुई मिली थी। अब तुम यहाँ हो तो, किसी दिन देखने चलेंगे। चाय पियोगे ?"

"आप बनायेंगे ?"

"और कौन ?" वे हँसने लगे, "अभी बन जाती है।" वे पर्दा उठाकर नीचे चले गये; नीचे शायद एक दूसरी कोठरी थी, जिसे मैंने सिर्फ बाहर से

देखा था; बाहर से जो चट्टान दिखायी देती थी, उसे ही दो हिस्सों में का
दिया गया था; ऊपर की कोठरी में शायद उनके मेहमान बैठते होंगे; वह
सिर्फ दो चटाइयाँ, एक दरी और एक आसन के अलावा कुछ भी नहीं था—
कोठरी आधी से ज्यादा नंगी दिखायी देती थी; चौकी के पास ही एक सुराह
और पीतल के दो गिलास रखे थे—साफ-सुथरे, धुले हुए; खिड़की के नाम
पर दीवार में एक खोखल था—जिसके बाहर पेड़ की कुछ शाखाएँ दिखायी
देती थीं···उसके परे पहाड़ी का एक भूरा खण्ड और आकाश दिखायी देत
—और कुछ भी नहीं। सिर्फ सन्नाटा सुनायी देता था—और कभी-कभी
हवा की सरसराहट; एक अजीब विचार आया कि वे बारह महीने इस
अकेली कोठरी में रहते होंगे, दिन, रात, सर्दी, गर्मी—बिल्कुल अकेले।
लेकिन वह महज विचार था, उसकी नंगी वास्तविकता नहीं, जब हम किसी
मृत व्यक्ति को देखते हैं, तो मृत्यु के बारे में सोचते हैं, या व्यक्ति के, किन्तु
स्वयं मृत व्यक्ति की वास्तविकता के बारे में एकसाथ नहीं सोच पाते···
किन्तु मृत्यु क्यों? वे जीवित थे···मैं उनकी कोठरी में बैठा था, हालांकि
मुझे अब तक भरोसा नहीं हो पाया था कि क्या ये वही आदमी थे, जिनसे
मिलने मैं आया था?

पर्दा हिला और वे भीतर आये। उनके हाथ में तांबे की थाली थी, जिस पर चाय के दो गिलास थे। एक तश्तरी में कुछ नमकीन शकरपारे रखे थे।

"इस तरफ बैठ जाओ; दरवाजे से हवा आती होगी।" उन्होंने थाली चौकी पर रख दी।

मैं चाय का गिलास लेकर दीवार से सटकर बैठ गया। कुछ देर तक हम दोनों ही चुप रहे; बीच-बीच में दरवाजा हुड़क उठता था। कुछ ऐसा लगता था, जैसे हम दोनों दुनिया के अन्तिम छोर पर बैठे थे—जहाँ हवा और पेड़ों की सरसराहट के अलावा कुछ भी सुनायी नहीं देता था।

"चाय ठीक है? यहाँ लकड़ियों की बान आती है।" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"आपके पास स्टोव नहीं है?" मैंने पूछा।

"तेल की झंझट पड़ती है; यहाँ आसानी से नहीं मिलता। सुबह टहलने

निकलता हूँ तो लकड़ियाँ चुन लाता हूँ। सर्दियों में बहुत काम आती हैं। शकरपारे लो, तुम्हें तो नमकीन अच्छा लगता है।"

मैं खाने लगा; इतने बरसों बाद भी उन्हें मेरी पसन्द नापसन्द याद रह गयी थी, हालाँकि जब वे घर में थे, तो शायद ही उन्हें कभी हमारे बारे में पता चलता हो। वे निचली मंज़िल में माँ के साथ रहते थे और बहुत कम ऊपर आते थे। कभी-कभी मेरे बच्चे नीचे बागान में खेलने चले जाते थे, तभी उनसे हँस-बोल लेते थे। मुझे कुछ अजीब लगा, कि अभी तक उन्होंने घर के बारे में मुझसे कुछ भी नहीं पूछा था...किन्तु शायद यह ठीक ही था। दस साल की हिस्ट्री—वे कहाँ से पूछते और मैं कहाँ से शुरू करता? हमारे बीच जो समय था, वह ही ठीक था, वह बीत चुका था। दोपहर ख़त्म हो चली थी और कोठरी के आगे पहाड़ी पर छाया उतरने लगी थी।

वही छाया हम दोनों के बीच भी सरक आती, कोठरी को दो हिस्सों में बाँटती हुई—एक, जहाँ वे बैठे थे, नीम-अँधेरे में, दूसरा जहाँ मैं था, शाम की सँकरी, म्लान रोशनी में, जो खिड़की से देहरी तक खिसक आती थी। कुछ देर तक हम दोपहर की उस धूप, खिड़की में बैठे रहे।

"बच्चे कैसे हैं?" आखिर उनकी आवाज़ सुनाई दी।

"ठीक," मैंने कहा; मैंने सोचा, वह कुछ और पूछेंगे, लेकिन जब वे चुप रहे, तो मैंने कहा, "मुन्नी अब कॉलेज जाती है।"

"और छोटी?"

"वह अभी बड़ी हो रही है...वही जिसे आप **भालू** कहते थे।" मैंने हँसकर कहा।

"कहाँ?" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"उसने [illegible] नहीं [illegible]...[illegible] थी, [illegible] रहे हैं?"

[illegible]...

[illegible]

[illegible]

बच्चों की बात बीच में छूट गयी; वे उठ खड़े हुए और जूठे बर्तन समेटने लगे। "तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।" वे पर्दा उठाकर नीचेवाली कोठरी में चले गये।

मैं कोठरी की मटियाली रोशनी में बैठा रहा। बाहर अब भी उजाला था। खुले दरवाजे से सब खुला दिखायी देता था···पहाड़ का निचला हिस्सा अँधेरे में डूबा था, लेकिन ऊपर पीठ पर अब भी धूप रेंग रही थी। कोठरी के नीचे कौओं की काली कतार नीचे उतर रही थी—अपनी कर्कश चीखों से समूचे वायुमण्डल को थरथराती हुई।

वे निचली कोठरी से ऊपर आये, तो हाथ में लालटेन थी। उसे चौकी पर रखकर उन्होंने मेरी ओर देखा; एक क्षण के लिए लगा, वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं; कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण, लेकिन वे हिचकिचाहट में चुप बैठे रहे।

उनका सिर चौकी पर झुका था—सोचता हुआ—टिमटिमाती रोशनी में उनका सिर, सफेद होते बाल, पीछे की गर्दन और कन्धों का उभार; अचानक मुझे लगा, जैसे मैं उन्हें नहीं—बाबू को देख रहा हूँ, जब मैं बहुत छोटा था और वे स्लेट पर मेरे सवाल हल करते थे और मैं गणित को भूल-कर उनकी गर्दन को देखा करता था···

"क्या वे घर आते हैं?"

"कौन?" मैं कुछ सहम गया। बाबू? दूसरे क्षण अपनी गलती पता चली; वे बड़े भाई की बात कर रहे थे, जो जीवित थे और दूसरे घर में रहते थे।

"जी···आते हैं। उन्होंने ही मुझे यहाँ आने के लिए कहा था।"

"तुम्हें? किसलिए?"

"वे मकान बेचना चाहते हैं; कागजों पर आपके दस्तखत कराने ही मैं आया था।" मैं हल्का-सा हो गया; जिस काम के लिए इतनी दूर आया था, वह इतनी आसानी से उनसे कह दूँगा, यह मुझे चमत्कार-सा जान पड़ा।

उन्होंने चौकी से सिर उठाया, एक क्षण के लिए मेरे ब्रीफकेस को देखा, जो अभी तक उपेक्षित फर्श पर पड़ा था। पहली बार उन्हें उन कागजों का मतलब समझ में आया, जो कुछ देर पहले उनकी सीढ़ियों पर हवा में उड़

रहे थे।

"और माँ ?" उन्होंने मेरी ओर आँखें उठायीं, जिनमें एक अजीब-सी थकान छलक आयी थी, "वे कहाँ रहेंगी ?"

"कहीं भी···जैसा वे ठीक समझेंगी।"

"और तुम ?"

"मैंने किराये की एक जगह देख ली है।"

"फिर मुझसे पूछने की क्या जरूरत थी ?"

"आपका भी तो मकान में हिस्सा है···" मैंने कहा।

वे धीरे-से हँस पड़े, "मैं यहाँ हूँ; मेरा हिस्सा पीछे कैसे छूट गया ?"

मैं चुप उन्हें देखता रहा।

"मकान बेचना क्या बहुत जरूरी है ?" उन्होंने आँखें खोलकर मुझे देखा।

"नहीं···जरूरी नहीं है; लेकिन बड़े देहरादून में जमीन खरीदना चाहते हैं; उसके लिए पैसा कहाँ से आयेगा ?"

"मकान बेचकर ?" उनके स्वर में हल्का-सा व्यंग्य उभर आया।

"और कैसे ?"

"लेकिन उसे बाबू ने खरीदा था; उसमें अपनी सारी पेंशन के पैसे लगाये थे।"

"हाँ; मुझे मालूम है···लेकिन बाबू अब नहीं हैं।"

"जो आदमी नहीं रहता, क्या उसकी चीजें हमारी हो जाती हैं ?"

मैंने विस्मय से उन्हें देखा; मन में आया, कहूँ, आप तो सबकुछ छोड़कर चले गये थे—अब मकान रहता है या बिकता है, इसकी चिन्ता क्यों ?

सहसा वे चौकी के आगे झुक आये, एक अजीब मुस्कराहट में उनके होंठ खुल गये, "जानते हो, जब बाबू ने वह मकान खरीदा था, तुम एम. ए. का फाइनल कर रहे थे; उन दिनों उस इलाके में बिजली नहीं आयी थी और तुम ऊपर बरसाती में लालटेन जलाकर पढ़ते थे।"

"जी, याद है।"

"तुम्हारा विवाह नीचे के आँगन में हुआ था।"

बरसाती, छत, आँगन, पता नहीं, वे मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे थे ?

नहीं, मकान नहीं···वे शायद कुछ और बात कहना चाह रहे थे और मैं अपने गुस्से की उमठन में कुछ भी नहीं समझ पा रहा था···

अचानक रोशनदान के खाली खोखल में कुछ चमका, जैसे कोई बनैल जानवर अपनी चमकीली आँख से भीतर झाँककर अँधेरे में गायब हो जाये मैंने कुछ भयभीत-सा होकर उन्हें देखा, "क्या है ?"

"कुछ नहीं, बिजली चमकी है।"

मुझे किसी नयी आशंका ने पकड़ लिया था। "अब चलता हूँ, बारिश आयी तो नीचे उतरना मुश्किल होगा।"

"तुम्हें जल्दी है ?" उन्होंने मेरी ओर देखा।

"मास्टरजी परेशान होंगे; मैं उनसे बिना कुछ कहे चला आया था।"

"उन्हें मालूम होगा कि तुम यहाँ हो।" वे एक क्षण ठहरे और फिर कुछ झिझकते हुए कहा, "आज रात यहाँ क्यों नहीं रुक जाते ?"

मुझे इसी का डर था; मैं तैयार होकर आया था।

"मुझे ब्लड-प्रेशर है···इतनी ऊँचाई पर रहना ठीक नहीं होगा।"

यह मूर्खतापूर्ण बहाना था। एक बार पहाड़ पर आकर ऊँच-नीच क्या देखना ? किन्तु उनके साथ रात-भर रहना, यह मेरे लिए असह्य था। हम रात उसी के साथ बिताते हैं, जो बहुत आत्मीय हो, या बिलकुल अजनबी; मेरा उनके साथ बीच का रिश्ता था, न इधर, न उधर; क्या इसीलिए घर-वालों ने मुझे उनके पास भेजा था ?

मैं झोला लेकर उठ खड़ा हुआ।

"ठहरो, मैं अभी आता हूँ।" वे नीचेवाली कोठरी में गये और जब ऊपर आये तो उनके एक हाथ में छतरी और दूसरे में टॉर्च थी, "इसे रख लो," उन्होंने छतरी मुझे दे दी, मैं तुम्हारे साथ मन्दिर तक आता हूँ।"

वे कोठरी की सीढ़ियाँ उतरे, फिर टॉर्च आगे करके मेरा हाथ पकड़कर नीचे उतार दिया। वे आगे-आगे चलने लगे, लेकिन मैं कुछ क्षण अँधेरे में खड़ा रहा; उनके हाथों की छुअन मेरी देह में घूमने लगी, एक शिकारी की तरह मेरी शिराओं में किसी दुबकी हुई याद को टोहती हुई—बीता हुआ स्नेह अँधेरे में जगमगा-सा उठा···क्या वे वही हैं, जिन्होंने घर छोड़ा था ?

वे ठिठक गये। पीछे मुड़कर मेरी ओर देखा, हँसने लगे, "मैंने सोचा,

तुम पीछे आ रहे हो ?"

मैं चलने लगा। चारों तरफ साफ धुला हुआ अँधेरा फैला था। तारे बिल्कुल सिर पर थे, एक दूसरे के इतना पास सटे हुए कि आकाश में कहीं भी खाली जगह दिखायी नहीं देती थी। मुझे अचम्भा हुआ कि इतनी स्वच्छ रात में बिजली कहाँ से कड़की होगी ?

वे टॉर्च जलाकर सधे पैरों से चल रहे थे—रोशनी के गोले में पेड़, झाड़ियाँ, चट्टानें, धीरे-धीरे पीछे सरकते जाते थे। कभी-कभी कोई पक्षी अँधेरे में चीखता हुआ ऊपर से उड़ जाता और फिर झाड़ी में खड़खड़ाहट सुनायी देती—जो शायद भ्रम था—झाड़ी पहले खटकती थी और पक्षी की उड़ान बाद में सुनायी देती थी; मेरे थैले में टिफिन का कटोरदान बार-बार मेरी थर्मस से टकराता था और तब अचानक मुझे याद आया।

"मेरा ब्रीफकेस ?"

"क्या ?" वे भी ठहर गये।

"मैं उसे आपकी कोठरी में ही भूल आया।"

"कोई बात नहीं…कल ले लेना।" फिर बहुत ही सहज स्वर में पूछा, "क्या उसमें कोई तुम्हारी लिखी चीज है ?"

पहली बार उन्होंने लिखने के बारे में पूछा था; मैं समझा था, वे अरसा पहले की मेरी इस अवैध, गोपनीय बीमारी को भूल चुके होंगे।

"नहीं, उसमें सिर्फ जायदाद के कागज हैं…आपके लिए कुछ पत्र हैं; उन्हें देख लीजियेगा।"

कुछ देर तक हम अँधेरे में चलते रहे, पगडण्डी पर टॉर्च की रोशनी के अलावा कुछ भी दिखायी नहीं देता था।

"बहुत दिनों से तुम्हारी कोई चीज नहीं देखी।"

"लिखा नहीं; अखबार में बहुत काम रहता है। आपको यहाँ पत्रिकाएँ मिल जाती हैं ?"

"मास्टरजी स्कूल की लायब्रेरी से कभी कोई चीज ले आते हैं…बहुत पहले शायद तुम्हारी कोई कहानी देखी थी।"

मैं धड़कते दिल को दबोचे अँधेरे में चलता रहा; एक घिनघिनाती शर्म में डूबा हुआ; बरसों पहले एक कहानी तो लिखी थी, दुर्भाग्यवश वह

छपी भी थी; बल्कि छपाने के लिए ही उसे लिखा था; वह उन...
उतनी नहीं थी, जो एक दिन अचानक घर छोड़कर चले गये थे, बल्कि उन
लोगों को लेकर थी, जो पीछे छूट गये थे। माँ और बाबू सोचते थे (माँ से
ज्यादा बाबू आशावान थे; तब वे जीवित थे) कि उसे पढ़ते ही वे लौट
आयेंगे'''लौटना तो दूर रहा, उन्होंने बीस पैसे का एक कार्ड भी नहीं भेजा
था। मुझे खुशी हुई कि वे अँधेरे में न मुझे देख सकते हैं, न मेरी शर्म को
लेकिन बरसों पहले की चोट मेरे भीतर के सब भटकावों को भेदकर सि
उठाने लगी, "आप," मैंने कहा, "आपने खबर तक नहीं की ?" यह कहते
ही मेरा गला रुँध गया—यह दोहरी शर्म थी—दिल्ली से आते समय मैंने
प्रण किया था कि उनसे यह प्रश्न कभी नहीं पूछूंगा और अब वह हम दोनों
के बीच में था—बियावान जंगल के बीच टॉर्च की गोल बिन्दी पर अटका
हुआ।

"इसका कोई फायदा नहीं था।" उन्होंने कहा।

"आपको मालूम है, हम आपको कहाँ-कहाँ ढूंढते फिरे ?"

नहीं, फायदा कुछ भी नहीं था; इस पहाड़ की शान्त चोटी से क्या
तलहटी के तिलचट्टों की बदहवासी समझ पायेंगे'''अस्पतालों और स्टेश
के चक्कर, पुलिस थानों की लिस्टों पर गुमनाम लोगों के नाम, मुर्दाघर
शिनाख्त, अखबारों में इश्तिहार—प्लीज कम, मदर इज इल'''

"फायदा ?"

"एक लाइन यह तो लिख सकते थे कि आप कहीं जीवित हैं ?"

"अगर तुम्हें मालूम होता कि मैं जीवित हूं, तो क्या तुम्हारी त
कम हो जाती ?"

"मैं तकलीफ की बात नहीं कर रहा।"

"फिर ?"

मैंने अपने भीतर टटोला और कुछ भी हाथ नहीं आया—न
न माँ का बुढ़ापा, न अपनी असफलताएँ—सबकुछ ऐसा ही हो
होना था।

"फिर इतने दिनों बाद चिट्ठी भेजने का क्या फायदा
पूछा।

वे कुछ देर चुप खड़े रहे। "हाँ, शायद नहीं भेजनी चाहिए थी लेकिन···" उन्होंने अँधेरे में एक लम्बी साँस ली।

"मुझे दस साल लगे कि तुम्हें कुछ लिख सकूँ; मैंने सोचा, अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि मैं जीवित हूँ या नहीं···"

उनके स्वर में कुछ ऐसी उदास निस्संगता थी, जो हमें आदमियों में नहीं—पेड़ और पत्थरों और पानी में मिलती है—जो रिश्तों की लहूलुहान पीड़ा से बाहर जान पड़ती है—क्या यह निस्संगता उन्होंने पिछले वर्षों के अकेलेपन में अर्जित की थी?

मैं चौंक गया। अँधेरे में कहीं नीचे एक हल्की-सी गड़गड़ाहट सुनायी दी, जैसे कोई भारी पत्थर ऊपर से लुढ़कता नीचे की ओर जा रहा हो।

"यह कैसी आवाज है?" मैंने उनकी ओर देखा।

"पहाड़ी झरना है, मैं यहीं से पानी लाता हूँ।"

"काफी नीचे जाना पड़ता होगा?"

"नहीं···मेरी कोठरी के नीचे ही बहता है; कल आओगे, तो देखने चलेंगे।"

वे खुद पानी लाते हैं? पता नहीं कैसे—उस क्षण मेरी शर्म और थकान और पिछले वर्षों की जमी नाराजगी घुल-सी गयी; हम ठिठके हुए सन्नाटे में पानी का बहना सुनते रहे; कहीं ऊपर से मन्दिर की घण्टियाँ सुनायी दे रही थीं—शाम की आरती शुरू हो गयी थी।

"अब आप लौटिए···मैं चला जाऊँगा।"

"अच्छा," उन्होंने कहा, पर वे गये नहीं और मैं उनके साथ बँधा खड़ा रहा।

"मैं कल आऊँगा", मैंने कुछ ऐसे कहा, मानो जो तसल्ली उन्होंने मुझे अब तक दी थी, अब उन्हें अकेला देखकर वापस लौटा रहा हूँ।

"तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं है?"

"कैसी तकलीफ?" मैंने उन्हें देखा।

"मास्टरजी का घर काफी छोटा है···तुम रेस्टहाउस में क्यों नहीं आ जाते?"

हीं, मैं ठीक हूँ; एक-दो दिन की ही तो बात है।"

-दो दिन···मेरे मुँह से निकल गया; हवा और मन्दिर की घण्टियों
द पता नहीं कितनी देर तक झूलते रहे।

स बार मैं रुका नहीं; सीधा मन्दिर की ढलान पर नीचे उतरता
आखिरी मोड़ पर पीछे मुड़ा तो देखा कि वे वहीं वैसे ही खड़े थे,
मैं उन्हें छोड़ गया था—अविचलित और एक ही जगह।

मोटर रोड की रोशनियाँ एक कतार में चमकीली झालर-सी टिमटिमा ही थीं। बीच में वह पहाड़ी शहर सफेद धुन्ध में लिपटा सो रहा था। क्या भी सो रहे होंगे? या अकेले अपनी कोठरी में बैठे होंगे? तुम पूरे दस साल ाद उनसे मिलने आये थे—और एक रात भी उनके साथ नहीं रह पाये? तुम लिखते हो, लेकिन जब कोई अभूतपूर्व सच्चाई रास्ते में मिल जाती है तो तुम किनारा करके भाग निकलते हो जैसे जीने का सच्चाई से और सच्चाई का लिखने से कोई नाता नहीं है। तीनों चीजें मरे मुर्दों की तरह अलग-अलग फाँसियों पर झूलती रहती हैं; और अगर भागना ही था—तो एक रात भी क्यों ठहरे? मकान के कागजों पर दस्तखत कराते और अगली बस से वापस लौट जाते? क्या मतलब था रुकने का, अगर एक ही रात और शहर में अलग-अलग छतों के नीचे सोना था? हमारा परिवार और भाई-बहन; आखिरी मौके पर पहुँचकर क्यों हम सब रूखे डण्ठल-से सूख जाते थे—सारा प्रेम कहीं राख और रेत में दब जाता था—और हम एक-दूसरे को अपनी हालत पर छोड़कर अलग हो जाते थे; क्या यह उदासीनता अपने में पाप नहीं थी? क्या इसी पाप से आतंकित होकर उन्होंने घर नहीं छोड़ा था?

उस रात मैं नीचे उतरता गया; गड़हे में जाकर अपनी शर्म और लांछना के कीचड़ में लिपटकर सोना—शायद वह उतना ही सुख देता है जितना पहाड़ की स्वच्छ चोटी पर रहना। लेकिन गड़हा मेरे भीतर और जब मैं मास्टर साहब के घर पहुँचा तो सिर्फ एक इच्छा सुलग र थी—उनकी आँखों से गायब होकर एक अदृश्य प्राणी की तरह अ बिस्तर पर जा लेटूँ और सारी रात वहीं काटकर दूसरे दिन दिल्ली र

हो जाऊँ।

मास्टरजी शायद रसोई में थे; उन्हें पता भी न चला कि मैं कब दरवाजा खोलकर भीतर आ गया हूँ; उस क्षण मुझमें मास्टरजी का सामना करने की न शक्ति थी, न इच्छा; मैं जल्दी से कपड़े बदलकर बिस्तर में छिप जाना चाहता था। कमरे में आग बलबल सुलग रही थी; जब मैं अँगीठी के पास आया, मुझे अपने भीतर की ठण्ड और थकन का बोध हुआ; इसके साथ ही अपने भीतर के तपते बुखार का खयाल आया—कहीं देह के भीतर मन का बुखार और मन के भीतर देह की ठिठुरन साथ-साथ एक-दूसरे को सता और सहला रहे थे, जिसमें मेरा साझा कहीं न था। यह अच्छा ही था। हम गृहस्थ लोगों के लिए यही सबसे बड़ी सान्त्वना है, साधु-संन्यासियों की तरह हम संसार का त्याग भले ही न कर सकें, लेकिन कुछ देर के लिए अपने मन और शरीर से छुटकारा पा सकते हैं—अलग हो सकते हैं, थोड़ा-सा हल्के हो सकते हैं; किन्तु उस रात मेरे भाग्य में यह नहीं बदा था। कपड़े बदलकर मैं बिस्तर पर लेटा ही था कि रसोई में हल्की-सी आहट सुनायी दी; मैं चौंककर उठ बैठा; चौके की देहरी पर मास्टरजी खड़े थे। वे मुझे ऐसे घूर रहे थे, जैसे मैं रँगे हाथों पकड़ा गया हूँ, "आप कब आये ?"

"अभी कुछ देर पहले" मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।" मैंने अपने को बचाते हुए कहा। वे कुछ ढीले पड़े; मेरे बिस्तर के पास आये, "मैंने आपसे पलँग पर सोने के लिए कहा था। इन दिनों फर्श पर सीलन रहती है।"

उन्होंने मेरे माथे पर हाथ रखा, फिर नाड़ी को परखा, "बुखार तो नहीं है" थोड़ी-सी थकन होगी। मेरे पास ब्राण्डी रखी है—थोड़ी-सी लीजिए; हाथ-पाँव में गरमाई आ जायेगी।"

उन्होंने अलमारी से एक छोटी-सी क्वार्टर बोतल निकाली और चौके से दो गिलास ले आये। मैं बिस्तर पर उठकर बैठ गया; कमरे की आग के सामने हम दोनों कुछ ऐसे जान पड़ रहे थे जैसे पीने के लिए नहीं—किसी पहाड़ी देवता की पूजा के निमित्त बैठे हैं; बाहर अँधेरे में किसी पक्षी की अजब, आग्रहभरी आवाज सुनायी दे जाती थी—जंगल की खामोशी को अपनी चोंच से छितराती हुई।

"निनीरा है; इसे सुनकर बच्चों को नींद आ जाती है।" उन्होंने ब्राण्डी का घूंट लिया और मेरी ओर देखा, "गर्म पानी चाहिए?"

"नहीं, ऐसे ठीक है···आपको यहाँ मिल जाती है?"

"नहीं, यहाँ कहाँ मिलेगी? कभी-कभी अल्मोड़ा या भुवाली से मँगवा लेता हूँ; बस के ड्राइवर ले आते हैं।"

आग की गरमाई रही होगी या ब्राण्डी का असर, मुझे लगा, मेरे देह की गाँठें धीरे-धीरे खुल रही हैं; कुछ देर पहले मन्दिर के नीचे जो विषाद और विक्षोभ की भावना आयी थी, वह कहीं अलग न झूलती हुई मेरी आत्मा के चौखटे में फिट हो गयी थी; सहसा मुझे लगा, इस दुनिया में कुछ भी बुरा नहीं है···मास्टरजी का एकटक मेरी तरफ घूरना भी नहीं। वे अजीब उत्सुकता में मुझे ताक रहे थे।

"मिल आये बाबा से?"

पहले क्षण मैं कुछ भी नहीं समझा, "कौन-से बाबा?"

वे हँसने लगे, "आप भी खूब हैं, जैसे यहाँ बाबाओं की भीड़ लगी है।"

मैं उनके खुले जबड़े और पीले दाँतों को देखता रहा। जिन्हें वे 'बाबा' कह रहे थे, उनका मुझसे कोई रिश्ता हो सकता है, यह उन्हें नहीं मालूम था; साधु-संन्यासियों का घर-परिवार हो सकता है, इसके बारे में कोई कभी सोचता भी नहीं, और यह बात मुझे पहली बार काफी विचित्र जान पड़ी।

"वे क्या अपनी कुटिया में ही थे?"

"जी···भला और कहाँ जायेंगे?" मैंने कुछ हैरानी से उन्हें देखा।

"हर जगह···पहले तो वे हर जगह घूमते थे; अपना सौदा-सुलुफ लेने भी खुद नीचे बाजार में आते थे।"

कहीं मेरे भीतर हल्की-सी उत्सुकता जागी।

"अब कहीं नहीं जाते?"

"कभी-कभी महीनों गुजर जाते हैं और उनके दर्शन नहीं होते; पहले मैं हाल-चाल पूछने उनकी कुटिया में चला जाता था—लेकिन उनका व्यवहार कुछ ऐसा अजीब दिखायी पड़ा कि मैंने भी जाना छोड़ दिया।"

"कैसा व्यवहार?"

वे आग की रोशनी में अपनी हथेली को ऐसे देख रहे थे जैसे मेरी बात

का उत्तर वहां लिखा हो; फिर उन्होंने ब्राण्डी का छोटा-सा घूंट लिया और मेरी ओर देखा, "पिछली सर्दियों में मैं उनके लिए पानी लाता था; वे बहुत मना करते थे, लेकिन मेरी छुट्टियां थीं और मैं हर सुबह उनकी कुटिया में पहुंच जाता था। एक सुबह मैं झरने से पानी भरकर ला रहा था कि वे मुझे रास्ते में मिल गये; मुझे रोककर बोले, 'क्या मैं उनके लिए लकड़ियां भी चुनकर ला सकता हूं ?'···'क्यों नहीं', मैंने कहा। वे कुछ देर तक मुझे देखते रहे, फिर मुस्कुराकर कहा, 'और रोटी ?क्या उनके लिए खाना भी बना सकता हूं;' मैंने कहा, 'नो प्रॉब्लम' 'दिन में एक बार खाते हैं; भला उनकी रोटी बनाने में कितनी देर लगेगी ?'और मैं ?' उन्होंने पूछा, 'मैं क्या करूंगा ?···' मैंने कहा, 'बाबा, आप ईश्वर का ध्यान कीजिए, इसीलिए तो आप सबकुछ त्यागकर यहां आये हैं ' जानते हो, उन्होंने क्या कहा ?"

मास्टरजी रुककर आग की लपटों को देखते रहे, कुछ देर तक जलती हुई लकड़ियों की चिर-चिर के अलावा कुछ भी सुनायी नहीं देता था।

"क्या कहा उन्होंने ?" मैंने उनकी ओर देखा।

कहने लगे, "जिसके बारे में कुछ मालूम नहीं, उसका ध्यान कैसे हो सकता है ?"

"यह उन्होंने कहा ?"

"मैंने पूछा, अगर ऐसी बात है, तो घर-बार छोड़कर यहां जंगल में आने की जरूरत क्यों ?जानते हैं, उन्होंने क्या कहा ?कहने लगे, मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा—मैं सिर्फ यहां रहता हूं। आप मेरा सब काम करेंगे, तो मैं क्या करूंगा ? मैंने पानी की बाल्टी रास्ते में ही छोड़ दी···जो आदमी अपनी सेवा नहीं कराना जानता वह 'उसकी' क्या सेवा करेगा ?"

वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर एक लम्बी सांस ली।

"मैं यहां अकेला रहता हूं—नौकरी के लिए—लेकिन वे यहां क्यों रहते हैं, यह कभी समझ में नहीं आया। न ध्यान-ज्ञान, न पूजा-पाठ···लोग उनसे मिलने आते हैं, तो चुपचाप बैठे रहते हैं—मैंने कभी उन्हें उपदेश का एक शब्द कहते नहीं सुना···"

"फिर भी लोग उनके पास आते हैं ?" मैंने पूछा।

"क्यों नहीं···आप भी तो आखिर इतनी दूर से आये हैं।"

"नाम सुना था···" मैंने कहा।

"कोई मनोकामना लेकर आये हैं—या सिर्फ जिज्ञासा ?"

मास्टरजी की टोहती आँखें मुझ पर टिकी थीं; मैंने भीतर झाँका—पुराने जालों के बीच जो चीज टँगी थी, वह न मनोकामना थी, न जिज्ञासा—हवा में डोलता सिर्फ एक टूटे रिश्ते का धागा था—जो कभी मास्टरजी से टकराता था, कभी मुझसे—लेकिन जिसको न वे समझ पाते थे, न मैं हटा पाता था···

"खाना लगाऊँ, बहुत देर हो गयी है।"

मास्टरजी रसोई में चले गये, लेकिन मैं अपने बिस्तर पर बैठा रहा। बाहर झींगुरों का स्वर एक तान में बज रहा था। ब्राण्डी लेने के बाद एक मन्द आँच मेरे भीतर भी जलने लगी थी; अपने घर में था, तो गृहस्थी के बीच पता नहीं चलता था कि अरसे से मेरे भीतर कितनी ठण्ड और थकन जमा होती गयी है।

"आप सो गये ?"

मैं चौंककर उठ बैठा। आग की हल्की गरमाई में मैं ऊँघने लगा था। उन्होंने दो थालियाँ फर्श पर रख दीं। दाल-सब्जी, मोटी गर्म रोटियाँ··· अकेले ही उन्होंने सब बनाया था; उस क्षण मुझे मास्टरजी के जीवन से अद्भुत ईर्ष्या हुई; मैं दो दिन से उनके घर में मेहमान बना बैठा था, जबकि उन्हें मेरे बारे में कुछ भी मालूम नहीं था। एकबारगी इच्छा हुई कि उन्हें सब बता दूँ, कह दूँ; उनके सहजी बाबा और कोई नहीं—मेरे भाई हैं, जिनसे मैं मिलने आया हूँ···लेकिन दूसरे ही क्षण कुछ भी कहने की इच्छा मर गयी; मेरी बात सुनकर वे अजीब संकोच में फँस जायेंगे और फायदा कुछ भी नहीं होगा···कुछ सत्य बिलकुल अनावश्यक होते हैं, उन्हें कहने, न कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

"अभी तो आप कुछ दिन यहाँ रहेंगे ?" उनके स्वर में कुछ अजीब-सी आतुरता थी।

"मुझे कल ही जाना है," मैंने कुछ झिझकते हुए कहा, "मैं सिर्फ दो दिन की छुट्टी लेकर आया था।"

"कहाँ काम करते हैं आप ?" उन्होंने पहली बार मुझसे मेरी नीचे-वाली जिन्दगी के बारे में पूछा था—उनके स्वर में एक लगावभरी चिन्ता थी, जिसके कारण मैं उनका कृतज्ञ-सा हो आया। मैंने उन्हें अपनी अखबार की नौकरी के बारे में बताया···अपने बच्चों, गृहस्थी और घर के बारे में—वे चुपचाप सुनते रहे। जब मैं अपनी बात खत्म कर चुका और उनकी ओर से फिर भी कोई उत्तर नहीं आया, तो मुझे थोड़ा-सा सन्देह हुआ, कहीं वे सो तो नहीं रहे ? सिर उठाकर उन्हें देखा—कमरे की पीली चाँदनी में उनकी आँखें मुझ पर टिकी थीं; मुझे एक अजीब-सा खटका हुआ—पता नहीं वे क्या सोच रहे थे ?

"एक बात कहूँ—आप घर-गृहस्थी छोड़कर इतनी दूर आये है, कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते ?"

"उसमें क्या होगा ?"

"बाबा का साथ रहेगा और क्या ? वे भी इन दिनों कोठरी में अकेले पड़े रहते हैं।"

"आप भी तो यहाँ रहते हैं···फिर भी उनके पास नहीं जाते।"

"मुझे समझ में नहीं आता, उनसे क्या बात करूँ—पहले उनका थोड़ा-बहुत काम करने चला जाता था—अब उन्हें उसकी भी जरूरत नहीं पड़ती ··पता नहीं, दिन-रात अकेले क्या करते हैं ?"

"देखिए—उन्होंने घर-बार अपनी इच्छा से छोड़ा होगा—और अकेले रहना इतना बड़ा सन्ताप भी नहीं है···आप भी तो यहाँ बिल्कुल अकेले रहते हैं।" मैंने कहा।

"मेरी बात बिल्कुल अलग है···मैं महीने में एक-दो बार अल्मोड़ा का चक्कर लगा आता हूँ, अगर यहाँ कोई ढंग का मकान मिल जाता, तो फेमिली को भी यहाँ ले आता···" वे एक क्षण रुके, मेरी ओर एक अजीब; अर्थभरी दृष्टि से देखा, धीरे से कहा, "एक बात मुझे समझ में नहीं आती, बाबा को यहाँ आये इतने वर्ष बीत गये, लेकिन उनके घर-परिवार का कोई आदमी उनसे नहीं मिलने आया।"

मुझे अजीब-सा सन्देह हुआ कि उन्हें मेरे बारे में सबकुछ मालू[illegible] शायद पहले दिन से ही उन्हें मालूम था, जब वह बस-स्टेशन पर [illegible]

किन्तु उनके चेहरे से कुछ पता नहीं चलता था।

"सम्भव है, उनके घरवालों को मालूम ही न हो कि वे यहाँ हैं।"

"इतने वर्षों में भी?" उन्होंने कुछ अविश्वास से मुझे देखा।

"शायद कोशिश की हो...इतना बड़ा देश है, कोई कहाँ तक छानता फिरेगा!" मैंने कहा।

वे कुछ देर अँधेरे में बाहर देखते रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, "मुमकिन है, उनका कोई न हो...कुछ लोग तो अपने अकेलेपन से घबराकर ही संन्यास ले लेते हैं।"

"आपने कभी उनसे नहीं पूछा?"

"अपने बारे में वे इतना ही कहते हैं जितना...ईश्वर के बारे में; कभी-कभी तो मुझे उनके संन्यासी होने पर भी शक होने लगता है।"

संन्यासी नहीं, तो और क्या हैं? दस साल पहले सबको रुलाकर घर छोड़ा था—अब ईश्वर को छोड़ कहाँ जायेंगे? किन्तु उस रात इसका उत्तर कहीं न था...मास्टरजी अपनी मंजी पर लेट गये और मैं अपने बिस्तर पर—बिल्कुल पिछली रात की तरह।

लेकिन पिछली रात की तरह कमरे में पूरा अँधेरा नहीं हुआ। चौके की खिड़की पर चाँद भीतर झाँक रहा था और कमरे की हर चीज एक महीन, पीले चूरे में चमकती जान पड़ती थी; देर तक मुझे नींद नहीं आयी; घर की याद आती थी तो लगता था, वह कोई दूसरी दुनिया हो—और जब भाई की अकेली कोठरी के बारे में सोचता, तो लगता कि वह कोई तीसरी दुनिया है—और ये सब दुनियाएँ धरती पर अलग-अलग बिखरी हैं—दिखती पास-पास हैं, किन्तु असल में एक-दूसरे से लाखों कि. मी. दूर हैं...क्या इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं? यह विचार ही मुझे भयंकर जान पड़ा; मैंने करवट ली ताकि इस प्रश्न को उठने से पहले ही बाजू में दबाकर सो सकूँ।

ऊपर कौए उड़ रहे थे। लश्कर-के-लश्कर; चीखते हुए वे नीचे उतरते और जहाँ थाह मिलती, वहाँ पसर जाते—पेड़, चट्टान, डगर, डाली; उनकी काँव-काँव से बाजार और मन्दिर के बीच का आकाश थर्राने लगता था:

मैं बाजार में ही था—बस-स्टैण्ड के शेड के नीचे एक छोटी-सी भीड़ जमा थी; ढाबों के आगे कुत्ते और मुर्गी ऊँघ रहे थे। मास्टरजी सबको धकियाते हुए आगे बढ़ गये और टिकट की खिड़की के आगे खड़े हो गये; खिड़की बन्द थी···मास्टरजी ने दो-तीन बार उसे अपने घूँसों से खटखटाया, अचानक एक सिर बाहर आया और मास्टरजी उससे बतियाने लगे, कुछ देर बाद वे मेरे पास आये "एडवांस बुकिंग नहीं होती—आपको बस में ही टिकट मिल जायेगा।"

"आपने टाइम पूछा ?"

"शाम को एक ही बस दिल्ली जाती है—छह बजे। दूसरी बस आठ बजे; वह डायरेक्ट नहीं जाती—भुवाली से दूसरी बस लेनी पड़ती है।"

छह बजे। समय काफी था। घर से निकलने से पहले मैं अपना सामान बाँध चुका था···मास्टरजी की सलाह पर उसे बाजार में उनकी जान-पहचान के हलवाई की दुकान में रखवा दिया था, ताकि शाम को लौटने पर उसे लेने दोबारा घर न जाना पड़े। मेरे हाथ में सिर्फ अपना थैला था—और 'उनका' छाता।

"आइए, एक-एक चाय और हो जाये। आपको पूरी चढ़ाई पार करनी है।" मास्टरजी ने कहा।

सुबह की चाय हम उनके घर में ही ले चुके थे—लेकिन ठण्ड कुछ इतनी ज्यादा थी कि मैं ढाबे में कुछ देर भट्टी के आगे बैठने का लालच नहीं रोक सका।

सुबह से ही मास्टरजी चुप थे; एक-दो बार मुझसे रुकने का आग्रह किया था, किन्तु जब मैंने उन्हें बताया कि अगले दिन ही मुझे अखबार में अपना कॉलम लिखना है, तो उन्होंने जोर नहीं डाला; न सहजो बाबा के बारे में एक शब्द कहा; पिछली रात के बाद हमारे बीच एक मूक समझौता-सा हो गया था कि हम उनके बारे में चुप ही रहेंगे···न उन्होंने उनकी चर्चा छेड़ी, न मैंने कुछ कहा; हमारे बीच वे कुछ वैसे ही अदृश्य हो गये थे—जैसे ऊँचाई पर उनकी कुटिया वह बादलों में छिप गयी थी; न मन्दिर दिखायी देता था, न फारेस्ट रेस्टहाउस; वह कुछ वैसा ही पहाड़ी दिन था, जब बारिश नहीं होती, लेकिन धूप भी दिखायी नहीं देती—सिर्फ बादलों की

कनात ऊपर से नीचे तनी रहती है।

"ये सब भुवाली से आते हैं।" मास्टरजी ने बादलों को देखते हुए कहा, "बाकी सब रानीखेत-नैनीताल की तरफ उड़ जाते हैं···बची-खुची खुरचन यहाँ आती है···इनके लिए यह जगह काले पानी की सजा है और क्या···"

मैं चाय पीता हुआ रुक गया, "इसके आगे नहीं जाते ?"

वे हँसने लगे, "इसके आगे कौए जाते हैं···देखते नहीं इनके लश्कर?"

वे चारों तरफ थे···मन्दिर की पहाड़ी पर, बाजार के ऊपर छतों और पेड़ों पर चक्कर काटते हुए···

"आप सोचेंगे, इतना छोटा शहर और इतने कौए ? कहते हैं, इस शहर पर एक शाप पड़ा था कि यहाँ के सब निवासी मृत्यु के बाद कौए की योनि प्राप्त करते हैं।"

"फिर भी लोग यहाँ रहते हैं ?" मैंने कहा।

"हाँ, रहते हैं—क्योंकि एक विश्वास यह भी है कि ये सब कौए मरने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं।" मास्टरजी ने कुछ गम्भीरता से कहा, "यह शहर एक तरह का ट्रांजिट स्टेशन है—कौए की योनि और निर्वाण के बीच।"

इस बार वे मुस्कुराये नहीं···अपनी सूनी निगाहों से धुन्ध में डूबे शहर और उसके ऊपर फड़फड़ाते काले डैनों को देखते रहे···काले पानी का शहर ···मुझे यह सोचकर कुछ अजीब-सा लगा कि भुवाली के बादल यहाँ आते हैं, आगे नहीं जाते···जैसे यह दुनिया का अन्तिम छोर हो—मृतात्माओं और कौओं का प्रदेश !

मैं आगे कुछ भी नहीं सोच सका; मास्टरजी ने भी जैसे अपनी मजाक-भरी कथा को आगे नहीं बढ़ाया—शायद वे भी अपनी जिन्दगी के बारे में सोचने लगे, जो आधी से ज्यादा इसी शहर में बीत चुकी थी···

उन्होंने मुझे चाय के पैसे भी नहीं चुकाने दिये···

"मैं शाम को इसी ढाबे के सामने रहूँगा···आप जरा जल्दी आ जाइयेगा —और···" वे एक क्षण झिझके; "उनसे मेरा प्रणाम कहियेगा।"

"आप भी मेरे साथ चलिए···वे बहुत खुश होंगे।" मैंने आग्रह किया, मैं इस बार उनके पास अकेले नहीं जाना चाहता था।

मेरी बात सुनकर वे एकदम घबरा-से गये, "नहीं···नहीं। मैं तो यहीं रहता हूँ—किसी भी दिन चला आऊँगा···आप कोई रोज थोड़े ही आते हैं।"

वे जल्दी से मुड़ गये, बाजार की भीड़ में खो गये।

चढ़ाई पर कीचड़ थी, बूँदा-बाँदी ऊपर से। दोपहर के बीच ही अँधेरा-सा घिरने लगा था। मैंने उनकी छतरी खोल ली और तेज कदमों से ऊपर चढ़ने लगा। मन्दिर की सीढ़ियों तक पहुँचते-पहुँचते मेरी साँस फूल आयी, एक बार इच्छा हुई, कुछ देर वहीं बैठकर स्वस्थ हो लूँ, उनके पास इस तरह लस्तम-पस्तम जाना ठीक नहीं होगा, फिर ख्याल आया, अगर शाम की बस पकड़नी है, तो जितना समय उनके पास बिता सकूँ, वही अच्छा है; दो-चार मिनट सीढ़ियों पर सुस्ताकर मैं दोबारा ऊपर चढ़ने लगा।

पगडण्डी के नीचे सुन्दर पहाड़ी कॉटेज थी, अंग्रेजों के जमाने की··· एक क्षण विश्वास नहीं हुआ कि वहाँ सम्भ्रान्त लोग रहते होंगे—जिनका अघोरी बाबा के नंगेपन, भाई की कुटिया और मास्टरजी के अकेलेपन से कोई लेना-देना नहीं, कभी किसी खुले दरवाजे से भीतर की झलक मिल जाती—सुलगती हुई फायरप्लेस कहीं गलियारे में लड़कियों की हँसती आवाजें···रेडियो का संगीत; यह वही दुनिया थी, जिसकी सुरक्षित चहार-दीवारी के बीच मैंने अपने चालीस वर्ष गुजारे थे—किन्तु बाहर धुन्ध में ठिठुरते हुए वह दुनिया कितनी बेगानी जान पड़ती थी; सहसा एक रिरियाते-से डर ने मुझे पकड़ लिया—अगर कोई मुझे अचानक इस सुन्दर और सुरक्षित दुनिया से बाहर फेंक दे तो मेरा क्या हाल होगा? मैं उस टिड्डे की तरह अँधेरे में चक्कर लगाऊँगा जिसे एक अंगुली से पकड़कर ड्राइंगरूम की खिड़की से बाहर फेंक दिया जाता है और जो कभी दोबारा भीतर आने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पाता; किन्तु अगले क्षण ही मुझे अपने डर पर हँसी आने लगी—मैंने अपने कोट के भीतर हाथ डाला, वहाँ मेरे बैंक की पास-बुक थी; गले में लिपटे मफलर को छुआ, जो पिछली वर्षगाँठ पर मेरी पत्नी ने मुझे भेंट की थी, मेरे चमड़े के वॅलेट में मेरे दोनों बच्चों की तसवीरें थीं, दिल्ली में मकान था, किताबें थीं, जिन पर मेरा नाम लिखा था—सब ठोस,

पक्की चीजें, जिनसे मेरा इस धरती पर होना साबित होता था; मैं वहा था, जो चालीस साल पहले इस दुनिया में आया था, एक पीस में जड़ा हुआ जीव, एक निरन्तर प्राणी—जिसके बीच कोई काट-फाँक नहीं थी; यह असम्भव लगा कि यह जीव मुझे एक दिन अनाथ पतंगे की तरह अँधेरे में छोड़कर गायब हो जायेगा···मैं जल्दी-जल्दी उनकी कुटिया की तरफ बढ़ने लगा; एक अजीब खुशी ने मुझे पकड़ लिया, कुछ घण्टों बाद शाम की बस से मैं अपनी जानी-पहचानी दुनिया में लौट जाऊँगा···डर का कोई कारण नहीं था।

मैंने धीरज की साँस ली, जब देखा, उनकी कोठरी में उजाला है—ज्यादा नहीं—उतना ही, जितना एक धुँधली दोपहर में लालटेन से बाहर आता है; मेरे लिए उतना ही काफी था। लगभग दौड़ते हुए मैं कुटिया की तीन सीढ़ियाँ चढ़ गया; साँकल खटखटाने के लिए हाथ बढ़ाया, तो बीच में ही ठिठक गया। क्या उनके साथ कोई भीतर है? उनकी आवाज सुनायी दी—ऐसी आवाज—जो न अकेली होती है, न किसी के साथ होती है, जैसे कोई नींद या बुखार में बुड़बुड़ाता है, आधे शब्द सुनायी देते हैं, आधे ऊपर से निकल जाते हैं—क्या वे प्रार्थना कर रहे थे, या अपने से ही बोल रहे थे? लेकिन तभी वे दिखायी दिये—दरवाजे के पल्लों के बीच वे मेरी नजर के घेरे में आ गये; वे रोशनदान के आगे खड़े थे···

मैं आज भी वह दृश्य नहीं भूल पाता; उसे 'दृश्य' भी कहना गलत होगा—दरवाजे के बीच सुराख से जो दिखायी दिया, वहाँ न सहजी बाबा थे, न मेरे भाई थे—वहाँ एक ऐसे आदमी खड़े थे, जो दीन-दुनिया से बेखबर अपने से बात कर रहे थे और बीच-बीच में खुद ही हँसने लगते थे···दरवाजे से चिपटा, लुटा-पिटा मैं उन्हें देखता रहा—एक सम्मोहित पशु-सा, जो भय और मोह के बीच जड़ पुतले-सा खड़ा रहता है···लेकिन मेरा दूसरा हिस्सा मुझसे छिटककर उनसे जा चिपटा था, हैरत में चीख रहा था—यह आप क्या कर रहे हैं? किससे बातें कर रहे हैं? किस पर हँस रहे हैं?

कहते हैं, जब आत्मा गूँगी पड़ जाती है, तब देह की आवाज सुनायी देती है; सन्नाटे में खून सनसनाता है और तब हम होश में आ जाते हैं,

अपने दिल की धड़कन को पहली बार सुनते हैं; ऐसा ही मेरे साथ हुआ; मुझे पता भी न चला, कब मैंने साँकल खटखटायी, कब उन्होंने दरवाजा खोला —मुझे अपने कन्धे पर उनका हाथ और उनके शब्द एकसाथ सुनायी दिये, "कहाँ रहे? मैं सुबह से तुम्हारे इन्तजार में बैठा था।"

उनका स्वर इतना सहज और शान्त था कि अनायास मैंने ऊपर देखा —वे मुस्कुरा रहे थे, *क्या ये वे ही आदमी थे, जो कुछ मिनट पहले अकेले में हँस रहे थे?*

"आप···?" मैंने कहा; फिर मैंने अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया; किसी ने मेरे भीतर की साँकल लगा दी; मैंने अपने विगत जीवन में आँख मूँदकर इतने दरवाजे बन्द किये हैं—एक यह भी सही।

"आपका हाथ बहुत गर्म है।" मैंने कहा, *"तबीयत ठीक है?"*

उन्होंने धीरे से अपना हाथ मेरे कन्धे से अलग कर दिया, फिर ऐसे कहा, जैसे मेरी बात को सुना भी न हो, "बाहर सर्दी है—भीतर चले आओ।"

मैंने उनकी छतरी कोने में रख दी, जूते उतार दिये, भीतर उतनी ही सर्दी थी, जितनी बाहर, नंगे कमरे में लालटेन की रोशनी और भी अधिक ठण्डी और मैली जान पड़ती थी।

"इतनी देर कहाँ रहे?" उन्होंने पूछा।

"मास्टरजी के साथ बाजार आया था···बस में सीट बुक करवानी थी।"

वे चुप रहे; लालटेन के दायरे में उनका सफ़ेद चेहरा, सलेटी दाढ़ी और घनी काली भवें एक निष्प्रभ आकार में सिमट गयी थीं···एक तपता चेहरा —जो न सौम्य था, न कठोर—सिर्फ़ निर्विकार-सा मुझे ताक रहा था।

"आज सुबह टहलता हुआ मैं फॉरेस्ट रेस्टहाउस गया था···उसके मैनेजर मुझे जानते हैं···वे आसानी से एक कमरा तुम्हारे लिए बुक करवा सकते हैं।"

"उससे क्या होगा?"

"तुम कुछ दिन यहाँ आराम से रह सकते हो···इतनी जल्दी क्या है?"

उनके स्वर में थोड़ा-सा आग्रह था, हल्का-सा सूखा स्नेह···जो दुरकता

नहीं था इसलिए उसे झेल पाना और भी दुखद और दुश्वार जान पड़ता था।

"आपको अच्छा लगेगा ?" मैंने कहा।

वे धीरे से हँस पड़े, "तुम सिर्फ मेरे लिए ही रुकना चाहोगे ?"

"और यहाँ कौन है ? मैं आपसे मिलने आया था।"

"नहीं···मैंने सोचा, शायद तुम कुछ दिन यहाँ रुकना चाहो···दिल्ली में तो रहना ही है।"

"आप सचमुच यह चाहते हैं ?" मैंने कहा।

"मेरे चाहने की बात नहीं···" वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर धीरे से कहा, "अरसे से तुमने छुट्टी नहीं ली···तुम छुट्टी मानकर ही यहाँ रह सकते हो।"

"वे सोचेंगे, मैं भी आपके साथ मिल गया हूँ। घर में क्या एक संन्यासी काफी नहीं है ?"

वे मुस्कुराने लगे, "क्या वे मुझे संन्यासी समझते हैं ? मैं तो यहाँ वैसे ही रहता हूँ, जैसे घर में रहता था···सिर्फ जगह बदल जाती है।"

"और आप ? आप बिल्कुल नहीं बदले ?" मैंने कुछ कौतूहल से उन्हें देखा।

"तुम क्या सोचते हो ?" उनकी आँखों में एक अजीब शरारती-सी चमक तैर रही थी।

"मैंने कभी नहीं सोचा था कि आपको इस जिन्दगी में देखना सम्भव हो पायेगा।"

"इस जिन्दगी में ?" उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, "इसके अलावा दूसरी जिन्दगी कौन-सी है ?"

क्या वे मेरे साथ खिलवाड़ कर रहे हैं ? लेकिन उनकी आँखें स्थिर थीं और चेहरे पर एक उदास-सी निमग्नता घिर आयी थी।

"अगर एक ही जिन्दगी है, तो फिर जगह बदलने का भी क्या मतलब है···जैसे यहाँ वैसे वहाँ।" मैंने कहा।

"अन्तर है···वहाँ दूसरों के लिए मेरा कोई मतलब नहीं था।"

"और यहाँ ?"

"यहाँ दूसरे नहीं हैं।···वे मुस्कुराने लगे, "इसीलिए अपने मतलब के बारे में ही सोचना पड़ता है···"

"क्या यह सम्भव है···दूसरों को बिल्कुल छोड़ देना?

वे कुछ सोचने लगे; दोपहर के मलिन आलोक में उनका सिर घोकी पर रुका आया था, सिर्फ बालों की सफेद लटें दिखायी देती थीं—कुछ देर पहले जिस चेहरे को हँसते देखा था वह अब एक अँधेरी बावड़ी पर ठिठकी छाया-सा दिखायी देता था।

"नहीं···सम्भव नहीं है," उन्होंने कहा, "तभी तो मैंने तुम्हें चिट्ठी भेजी थी। संन्यासी होने के लिए सिर्फ छोड़ना ही काफी नहीं है···"

वे दीवार पर पीठ लगाये थोड़ा-सा झुक आये थे, आँखें मुँदी थीं; दरवाजे का पल्ला धीरे-धीरे हिल रहा था। हवा उठती थी, और बाहर की धूल और पत्तियाँ भीतर ले आती थी।

उन्होंने अचानक आँखें खोल दीं।

"कोई आया था?" उन्होंने कुछ हैरत से मुझे देखा।

"नहीं," मैंने कहा, लेकिन तभी बाहर पैरों की आहट सुनायी दी; कुछ लोग सीढ़ियों के नीचे खड़े थे।

"जरा देखो कौन है?" उन्होंने मेरी ओर देखा। मैं उठकर देहरी के पास आया; दरवाजा पूरी तरह खोल दिया; नीचे तीन-चार सम्भ्रान्त-से दीखनेवाले व्यक्ति खड़े थे···साथ में दो महिलाएँ भी थीं। मुझे देखकर एक सज्जन आगे बढ़े, "क्या बाबा भीतर हैं?"

मैं कुछ कह पाता कि मुझे अपने पीछे उनकी आवाज सुनायी दी, "आप बाहर बैठिए, मैं आता हूँ।"

उनका स्वर सुनते ही सबके हाथ जुड़ गये। मैं अलग हट गया। वह नीचे सीढ़ियों पर आये तो हर व्यक्ति आगे बढ़कर उनके पैर छू लेता था। सबसे बाद में एक बहुत कम उम्र की महिला आयीं, काली शॉल में लिपटी हुई—एक क्षण बाबा को देखा···और फिर बहुत देर तक उनके पैरों के पास सिर टिकाकर बैठी रहीं।

वे निश्चल खड़े थे; न एक शब्द कहा, न हाथ उठाकर कोई आशीर्वाद दिया। कुछ देर बाद वे मेरी तरफ मुड़े, "तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।"

उनके चेहरे पर अजीब-सा संकोच था; मैं निढाल-सा खड़ा रहा, क्या इन लोगों के सामने उन्हें मुझसे शर्म-सी आ रही थी ?

मैं भीतर आया और लालटेन की बत्ती धीमी कर दी···सिर्फ इतनी रोशनी रहने दी कि बाहर का हल्का उजाला भीतर आता रहे; वे कुटिया के बाहर बांज के नीचे एक सफेद चबूतरे पर बैठे थे; कभी-कभी उनमें से किसी की आवाज भीतर आ जाती थी, अलग-अलग टुकड़ों में···बाबा से कुछ कहती हुई, लेकिन उनका स्वर एक बार भी सुनायी नहीं दिया—और तब मुझे अपने प्रश्न पर ही शर्म आने लगी, जो मैंने उनसे पूछा था···दूसरे लोग? उन्होंने हमें छोड़ दिया था, लेकिन ये लोग ? उन्हें इनसे क्या मिलता होगा, जो यहाँ आते हैं, कुछ जरूर होगा, जिसके बारे में मुझे कुछ भी नहीं मालूम, क्या मैं अपने भाई के रूप में एक अजनबी से मिल रहा था, उनसे वह सब पूछ रहा था, जिसका इस जगह कोई मतलब नहीं था···और तब मुझे बरसों पहले की घटना याद हो आयी, जब मैं उन्हें ढूंढने अस्पताल के मुर्दाघर में गया था। मुझे लगा, चबूतरे के आगे जो लोग उनके दर्शन करने आये हैं, मैं भी उन्हीं की लाइन में खड़ा हो गया हूँ, किन्तु वह कोई दूसरी जगह थी, दूसरा समय—वहाँ सफेद चबूतरे की जगह बर्फ की सिलें रखी थीं, जिन पर लोगों की लाशें मछलियों-सी रखी थीं। मैं हर सिल के आगे रुक जाता था—क्या यह वे हैं ? लेकिन हर बार जब मैं रुकता, मुर्दाघर का अटेण्डेण्ट मुझे पीछे से धक्का दे देता था, जल्दी कीजिए, आपके ही नहीं दूसरों के मुर्दे भी पड़े हैं, पहचानिए और आगे बढ़िए···दूसरों के मुर्दे ? मैं धक्के खाता हुआ आगे बढ़ गया···दस साल आगे···और अचानक समझ नहीं पाया कि मैं बर्फ की सिल पर लेटा हुआ उन्हें देख रहा हूँ या वे ऊपर से झुककर मुझे निहार रहे हैं···

"छोटे !"

एक धीमी-सी आवाज सुनायी दी; मेरे ऊपर लालटेन थी और वे मुझे बुला रहे थे, दस साल बाद उनके मुंह से अपना घर का नाम सुनकर मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। लगा, मैं अपने घर में हूँ; आँखें फाड़ते हुए उन्हें देखने लगा, जो ऊपर से मुझे देख रहे थे।

"तुम सो गये थे ?" उन्होंने धीरे से कहा। मैंने देखा, मेरे ऊपर उनका

कम्बल बिछा है, मेरी देह में गरमाया हुआ।

"वे लोग चले गये?" मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा।

"बहुत पहले के···"

"आप यह कम्बल कब दे गये?"

"जब मैं भीतर आया, तुम ऐसे ठिठुर रहे थे, जैसे बर्फ पर लेटे हो।" उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा।

बर्फ पर? मुझे लगा, मैं किसी दस साल पुराने सपने से बाहर निकल आया हूँ; कोठरी में हल्की पीली-सी रोशनी फैली थी, डूबने से पहले सूरज बाहर निकल आया था; एक पीली-सी चमक पहाड़ों पर उतर आयी थी।

वे मेरे पास झुक आये, बहुत कोमल स्वर में कहा, "थोड़ा आराम कर लो, अभी चाय बना लाता हूँ।"

मैंने उन्हें देखा—वही शान्त चेहरा और छोटी-सी मुस्कुराहट—जैसे वे भी अभी-अभी बर्फ की सिल से उठकर बाहर आये हों, बाहर उजाले में, जहाँ उनकी दुनिया मेरे अतीत से मिल गयी थी, शाम की उस घड़ी में मेरा उन्हें देखना और उनका चुप रहना एक तरह की तैयारी थी, जहाँ- पिछले वर्षों का गूँगा रेगिस्तान एक क्षण में नाप लिया जाता है शायद इसीलिए उन्होंने मुझे बुलाया था··वे शायद अन्तिम बार मुझसे—घर से—छुटकारा पा लेना चाहते थे।

मैं धीरे से उठा, उनका कम्बल तहाकर कोने में रख दिया। फिर देहरी पर आया, अपने जूते पहने और थैला उठाकर उन्हें देखा; वे अब भी लालटेन लेकर खड़े थे, हालांकि अब उजाले में उसकी कोई जरूरत नहीं थी।

"मैं चलूंगा—बस जाती होगी।"

वे चुप खड़े रहे। फिर धीरे से कहा, "ठहरो, अभी आता हूँ।"

वे नीचे के कमरे में गये। जब ऊपर आये तो उनके हाथ में लालटेन नहीं थी।

"तुम इसे फिर भूल गये," उन्होंने मेरा ब्रीफकेस मुझे लौटाते हुए कहा, "पत्र मैंने रख लिये हैं और····" वे एक क्षण रुके, फिर धीमे से कहा, "तुम देख लेना, कागजों पर दस्तखत मैंने कर दिये हैं।"

मैंने उन्हें देखा; वे थोड़ा-सा मुड़ गये थे; बाहर पेड़ों से छनती धूप

उनके पैरों पर गिर रही थी। मैं भी झुक गया, कुछ देर झुका रहा…और मुझे लगा जैसे कोई मेरे सिर को सहला रहा है, एक गर्म तपती-सी छुअन जो धीरे-धीरे मेरी देह को ताप रही थी…

सिर उठाया, तो कोठरी में कोई नहीं था, रोशनदान से बांज के पेड़ की छाया नीचे ढुरक आयी थी और जहाँ वे खड़े थे, वहाँ धूप का एक चकत्ता चुपचाप सरक आया था। मेरी यात्रा का अन्त शायद ऐसे ही होना था।

मैंने ब्रीफकेस उठाया और बाहर चला आया।

उसके बाद कुछ नहीं है; मैं पेड़ों के बीच धूप में धुली पगडण्डी उतरने लगा—वह कितना नीचे उतरती थी। दिल्ली शहर और दोस्त, अखबार का दफ्तर, गर्मी की सनसनाती लू-भरी दोपहरें और मेरी सच्ची-झूठी कहानियाँ…मैं धीरे-धीरे उस ऊँचाई को भूल गया, जहाँ उनसे, मास्टरजी से, अघोरी बाबा से मिला था…वे दोनों ही मुझे बस-अड्डे पर छोड़ने आये थे; उनके चेहरे समय के साथ धुंधले पड़ गये हैं, लेकिन कभी-कभी अकेले क्षणों में सहसा मास्टरजी का प्रश्न उमग आता है। बस की खिड़की से सटकर उन्होंने असीम जिज्ञासा से पूछा था, "आप जो मनोकामना लेकर उनके पास गये थे, वह क्या पूरी हो गयी?" इससे पहले मैं कोई उत्तर सोच पाता, बस चल पड़ी; मास्टरजी कुछ दूर बस के साथ-साथ भागते आये, लेकिन अघोरी बाबा मुझसे उदासीन ऊपर देख रहे थे…पेड़ों के ऊपर हवा में फड़फड़ाता हुआ एक काला बवण्डर उठ रहा था; हजारों कौए जंगल पर चक्कर काटते हुए मन्दिर की तरफ उड़ रहे थे।

एक दिन का मेहमान

उसने अपना सूटकेस दरवाजे के आगे रख दिया। घण्टी का बटन दबाया और प्रतीक्षा करने लगा। मकान चुप था। कोई हलचल नहीं—एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि घर में कोई नहीं है और वह खाली मकान के आगे खड़ा है। उसने रूमाल निकालकर पसीना पोंछा, अपना एयर-बैग सूटकेस पर रख दिया। दुबारा बटन दबाया और दरवाजे से कान सटाकर सुनने लगा, बरामदे के पीछे कोई खुली खिड़की हवा में हिचकोले खा रही थी।

वह पीछे हटकर ऊपर देखने लगा। वह दुमंजिला मकान था—लेन के अन्य मकानों की तरह—काली छत, अंग्रेजी 'वी' की शक्ल में दोनों तरफ से ढलुआं, और बीच में सफेद पत्थर की दीवार, जिसके माथे पर मकान का नम्बर एक काली बिन्दी-सा टिमक रहा था। ऊपर की खिड़कियां बन्द थीं और परदे गिरे थे। कहां जा सकते हैं इस वक्त ?

वह मकान के पिछवाड़े गया—वही लॉन, फ़ॅन और झाड़ियां थीं, जो उसने दो साल पहले देखी थीं, बीच में विलो अपनी टहनियां झुकाये एक काले, बूढ़े रीछ की तरह ऊंघ रहा था। लेकिन गैराज खुला और खाली पड़ा था; वे वही कार लेकर गये थे, सम्भव है, उन्होंने सारी सुबह उसकी प्रतीक्षा की हो और अब किसी काम से बाहर चले गये हों। लेकिन दरवाजे पर उसके लिए एक चिट तो छोड़ ही सकते थे ?

वह दुबारा सामने के दरवाजे पर लौट आया। अगस्त की चुनचुनाती धूप उसकी आंखों पर पड़ रही थी। सारा शरीर चू रहा था। वह बरामदे में ही अपने सूटकेस पर बैठ गया। अचानक उसे लगा, सड़क के पार मकानों

की खिड़कियों से कुछ चेहरे बाहर झाँक रहे हैं, उसे देख रहे हैं। उसने सुना था, अंग्रेज लोग दूसरों की निजी चिन्ताओं में दखल नहीं देते, लेकिन वह मकान के बाहर बरामदे में बैठा था, जहाँ प्राइवेसी का कोई मतलब नहीं था; इसीलिए वे निस्संकोच, नंगी उन्मुक्तता से उसे घूर रहे थे। लेकिन शायद उनके कौतूहल का एक दूसरा कारण था; उस छोटे, अंग्रेजी कस्बाती शहर में लगभग सब एक-दूसरे को पहचानते थे और वह न केवल अपनी शक्ल-सूरत में, बल्कि झूलते-झालते हिन्दुस्तानी सूट में काफी अद्भुत प्राणी दिखायी दे रहा होगा। उसकी तुड़ी-मुड़ी वेशभूषा और गर्द और पसीने में लथपथ चेहरे से कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि अभी तीन दिन पहले फ्रैंक-फर्ट की कान्फ्रेंस में उसने पेपर पढ़ा था। 'मैं एक लुटा-पिटा एशियन इमीग्रेण्ट दिखायी दे रहा हूँगा'···उसने सोचा और अचानक खड़ा हो गया–मानो खड़ा होकर प्रतीक्षा करना ज्यादा आसान हो। इस बार बिना सोचे-समझे उसने दरवाजा जोर से खटखटाया और तत्काल हकबकाकर पीछे हट गया—हाथ लगते ही दरवाजा खट-से खुल गया। ज़ीने पर पैरों की आवाज सुनायी दी —और दूसरे क्षण वह चौखट पर उसके सामने खड़ी थी।

वह भागते हुए सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आयी थी, और उससे चिपट गयी थी। इससे पहले वह पूछता, क्या तुम भीतर थीं? और वह पूछती, तुम बाहर खड़े थे?—उसने अपने धूल-भरे लस्तम-पस्तम हाथों से उसके दुबले कन्धोंको पकड़ लिया और लड़की का सिर नीचे झुक आया और उसने अपना मुँह उसके बालों पर रख दिया।

पड़ोसियों ने एक-एक करके अपनी खिड़कियाँ बन्द कर दीं।

लड़की ने धीरे-से उसे अपने से अलग कर दिया, "बाहर कब से खड़े थे?"

"पिछले दो साल से।"

"वाह!" लड़की हँसने लगी। उसे अपने बाप की ऐसी ही बातें बोड़म जान पड़ती थीं।

"मैंने दो बार घण्टी बजायी—तुम लोग कहाँ थे?"

"घण्टी खराब है, इसीलिए मैंने दरवाजा खुला छोड़ दिया था।"

"तुम्हें मुझे फोन पर बताना चाहिए था—मैं पिछले एक घण्टे से आगे-

पीछे दौड़ रहा था।"

"मैं तुम्हें बतानेवाली थी, लेकिन बीच में लाइन कट गयी" तुमने और पैसे क्यों नहीं डाले?"

"मेरे पास सिर्फ दस पैसे थे" वह औरत काफी चुड़ैल थी!"

"कौन औरत?" लड़की ने उसका बैग उठाया।

"वही, जिसने हमें बीच में काट दिया।"

आदमी अपना सूटकेस बीच ड्राइंगरूम में घसीट लाया। लड़की उत्सुकता से बैग के भीतर झाँक रही थी—सिगरेट के पैकेट, स्कॉच की लम्बी बोतल, चॉकलेट के बण्डल—वे सारी चीजें, जो उसने इतनी हड़बड़ी में फ्रैंकफर्ट के एयरपोर्ट पर ड्यूटी-फ्री दुकान से खरीदी थी, अब बैग से ऊपर झाँक रही थीं।

"तुमने अपने बाल कटवा लिये?" आदमी ने पहली बार चैन से लड़की का चेहरा देखा।

"हाँ सिर्फ छुट्टियों के लिए। कैसे लगते हैं?"

"अगर तुम मेरी बेटी नहीं होती, तो मैं समझता कोई लफंगा घर में घुस आया है।"

"ओह पापा!" लड़की ने हँसते हुए बैग से चाकलेट निकाली, रैपर खोला, फिर उसके आगे बढ़ा दी।

"स्विस चॉकलेट," उसने उसे हवा में झुलाते हुए कहा।

"मेरे लिये एक गिलास पानी ला सकती हो?"

"ठहरो, मैं चाय बनाती हूँ।"

"चाय बाद में···", वह अपने कोट की अन्दरूनी जेब में कुछ टटोलने लगा—नोटबुक, वालेट, पासपोर्ट—सब चीजें बाहर निकल आयीं, अन्त में उसे टेबलेट्स की डिब्बी मिली, जिसे वह ढूँढ रहा था।

लड़की पानी का गिलास लेकर आयी तो उससे पूछा, "कैसी दवाई है?"

"जर्मन", उसने कहा, "बहुत असर करती है।" उसने टेबलेट पानी के साथ निगल ली, फिर सोफे पर बैठ गया। सबकुछ वैसा ही था, जैसा उसने सोचा था। वही कमरा, शीशे का दरवाजा, खुले हुए परदों के बीच वही

चौकोर, हरे रूमाल-जैसा लॉन, टी. वी. के स्क्रीन पर उड़ती पक्षियों की छाया, जो वाहर उड़ते थे और भीतर होने का भ्रम देते थे···।

वह किचन की देहरी पर आया। गैस के चूल्हों के पीछे लड़की की पीठ दिखायी दे रही थी। कार्डराय की काली जीन्स और सफेद कमीज, जिसकी मुड़ी स्लीव्स बाँहों की कुहनियों पर झूल रही थीं। वह वहुत हल्की और छुई-मुई-सी दिखायी दे रही थी।

"मामा कहां हैं ?" उसने पूछा। शायद उसकी आवाज इतनी धीमी थी कि लड़की ने उसे नहीं सुना, किन्तु उसे लगा, जैसे लड़की की गर्दन कुछ ऊपर उठी थी। "मामा क्या ऊपर हैं ?" उसने दुवारा कहा और लड़की वैसे ही निश्चल खड़ी रही और तव उसे लगा, उसने पहली वार भी उसके प्रश्न को सुन लिया था। "क्या वह वाहर गयी हैं ?" उसने पूछा। लड़की ने वहुत धीरे, धुंधले ढंग से सिर हिलाया, जिसका मतलव कुछ भी हो सकता था।

"तुम पापा, कुछ मेरी मदद करोगे ?"

वह लपककर किचन में चला आया, "वताओ, क्या काम है ?"

"तुम चाय की केतली लेकर भीतर जाओ, मैं अभी आती हूँ।"

"वस !" उसने निराश स्वर में कहा।

"अच्छा, प्याले और प्लेटें भी लेते जाओ।"

वह सव चीजें लेकर भीतर कमरे में चला आया। वह दुवारा किचन में जाना चाहता था, लेकिन लड़की के डर से वह वहीं सोफा पर वैठा रहा। किचन से कुछ तलने की खुशवू आ रही थी। लड़की उसके लिए कुछ वना रही थी—और वह उसकी कोई भी मदद नहीं कर पा रहा था। एक वार इच्छा हुई, किचन में जाकर उसे मना कर आये कि वह कुछ नहीं खायेगा—किन्तु दूसरे क्षण भूख ने उसे पकड़ लिया। सुवह से उसने कुछ नहीं खाया था। यूस्टन स्टेशन के कैफेटेरिया में इतनी लम्वी 'क्यू' लगी थी कि वह टिकट लेकर सीधा ट्रेन में घुस गया था। सोचा था, वह डायनिंग-कार में कुछ पेट में डाल लेगा, किन्तु वह दुपहर से पहले नहीं खुलती थी। सच पूछा जाय, तो उसने अन्तिम खाना कल शाम फ्रैंकफर्ट की एयरपोर्ट में खाया था और जव रात को लन्दन पहुँचा था, तो अपने होटल की वॉर में पीता रहा था। तीसरे

गिलास के बाद उसने जेब से नोटबुक निकाली, नम्बर देखा और बार के टेलीफोन बूथ में जाकर फोन मिलाया था···पहली बार मे पता नहीं चला, उसकी पत्नी की आवाज है या बच्ची की। उसकी पत्नी ने फोन उठाया होगा, क्योंकि कुछ देर तक फोन का सन्नाटा उसके कान में सनसनाता रहा, फिर उसने सुना, वह ऊपर से बच्ची को बुला रही है। और तब उसने घड़ी देखी; उसे अचानक ध्यान आया, इस समय वह सो रही होगी, और वह फोन नीचे रखना चाहता था, किन्तु उसी समय उसे बच्ची का स्वर सुनायी दिया; वह आधी नींद में थी। उसे कुछ देर तक पता ही नहीं चला कि वह इण्डिया से बोल रहा है या फ्रैंकफर्ट से या लन्दन से···वह उसे अपनी स्थिति समझा ही रहा था कि तीन मिनट खत्म हो गये और उसके पास इतनी 'चेंज' भी नहीं थी कि वह लाइन को कटने से बचा सके, तसल्ली सिर्फ इतनी थी कि वह नींद, घबराहट और नशे के बीच यह बताने में सफल हो गया था कि वह कल उनके शहर पहुँच रहा है कल यानी आज।

ये अच्छे क्षण थे। बाहर इग्लैण्ड की पीली और मुलायम धूप फैली थी। वह घर के भीतर था। उसके भीतर गरमाई की लहरें उठने लगी थीं। हवाई अड्डों की भाग-दौड़, होटलों की हील-हुज्जत, ट्रेन-टैक्सियों की हड़बड़ाहट–वह सबसे परे हो गया था। वह घर के भीतर था; उसका अपना घर न सही, फिर भी एक घर—कुर्सियाँ, परदे, सोफा, टी. वी.। वह बरसों से इन चीजों के बीच रहा था और हर चीज के इतिहास को जानता था। हर दो-तीन साल बाद जब वह आता था, तो सोचता था—बच्ची कितनी बड़ी हो गयी होगी और पत्नी? वह कितनी बदल गयी होगी ! लेकिन ये चीजें उस दिन से एक जगह ठहरी थीं, जिस दिन उसने घर छोड़ा था; वे उसके साथ जाती थीं, उसके साथ लौट आती थीं···

"पापा, तुमने चाय नहीं डाली ?" वह किचन से दो प्लेटें लेकर आयी, एक में टोस्ट और मक्खन थे, दूसरी में तले हुए सॉसेज।

"मैं तुम्हारा इन्तजार कर रहा था।"

"चाय डालो, नहीं तो बिल्कुल ठण्डी हो जायेगी।"

वह उसके साथ सोफा पर बैठ गयी। "टी वी. खोल दूँ देखोगे ?"

भी नहीं···सुनो, तुम्हें मेरे स्टैम्प्स मिल गये थे ?"

"हाँ, पापा, थैंक्स !" वह टोस्ट्स पर मक्खन लगा रही थी।

"लेकिन तुमने चिट्ठी एक भी नहीं लिखी !"

"मैंने एक लिखी थी, लेकिन जब तुम्हारा टेलीग्राम आया, तो मैंने ..., अब तुम आ रहे हो तो चिट्ठी भेजने की क्या जरूरत ?"

"तुम सचमुच गागा हो।"

लड़की ने उसकी ओर देखा और हँसने लगी। यह उसका चिढ़ाऊ नाम ..., जो बाप ने बरसों पहले उसे दिया था, जब वह उसके साथ घर में रहता ..., वह बहुत छोटी थी और उसने हिन्दुस्तान का नाम भी नहीं सुना था।

बच्ची की हँसी का फायदा उठाते हुए वह उसके पास झुक आया जैसे वह कोई चंचल चिड़िया हो, जिसे केवल सुरक्षा के भ्रामक क्षण में ही पकड़ा जा सकता है, "ममी कब लौटेंगी ?"

प्रश्न इतना अचानक था कि लड़की झूठ नहीं बोल सकी, "वह ऊपर अपने कमरे में हैं।"

"ऊपर ? लेकिन तुमने तो कहा था···"

किरच, किरच, किरच—वह चाकू से जले हुए टोस्ट को कुरेद रही थी मानो उसके साथ-साथ वह उसके प्रश्न को भी काट डालना चाहती हो। हँसी अब भी थी, लेकिन अब वह बर्फ में जमे कीड़े की तरह उसके होंठों पर चिपकी थी।

"क्या उन्हें मालूम है कि मैं यहाँ हूँ ?"

लड़की ने टोस्ट पर मक्खन लगाया, फिर जैम—फिर उसके आगे प्लेट रख दी।

"हाँ, मालूम है।" उसने कहा।

"क्या वह नीचे आकर हमारे साथ चाय नहीं पियेंगी ?"

लड़की दूसरी प्लेट पर सॉसेज सजाने लगी–फिर उसे कुछ याद आया वह रसोई में गयी और अपने साथ मस्टर्ड और कैचुप की बोतलें ले आयी

"मैं ऊपर जाकर पूछ आता हूँ।" उसने लड़की की तरफ देखा, जै... उससे अपनी कार्यवाही का समर्थन पाना चाहता हो। जब वह कुछ न... बोली, तो वह ज़ीने की तरफ जाने लगा।

"प्लीज़ पापा।"

उसके पाँव ठिठक गये।

"आप फिर उनसे लड़ना चाहते हैं?" लड़की ने कुछ गुस्से में उसे देखा।

"लड़ना!" वह शर्म से भीगा हुआ हँसने लगा, "मैं यहाँ दो हज़ार मील उनसे लड़ने आया हूँ?"

"फिर आप मेरे पास बैठिए।" लड़की का स्वर भरा हुआ था। वह अपनी माँ के साथ थी, लेकिन बाप के प्रति क्रूर नहीं थी। वह उसे पुचकारती निगाहों से निहार रही थी—"मैं तुम्हारे पास हूँ, क्या यह काफ़ी नहीं है?"

वह खाने लगा, टोस्ट, सॉसिज, टिन के उबले हुए मटर। उसकी भूख उड़ गयी थी, लेकिन लड़की की आँखें उस पर थीं। वह उसे देख रही थी, और कुछ सोच रही थी, कभी-कभी टोस्ट का एक टुकड़ा मुँह में डाल लेती और फिर चाय पीने लगती। फिर उसकी ओर देखती और चुपचाप मुस्कराने लगती, उसे दिलासा-सी देती, सबकुछ ठीक है, तुम्हारी ज़िम्मेदारी मुझ पर है और जब तक मैं हूँ, डरने की कोई बात नहीं।

डर नहीं था। टेबलेट का असर रहा होगा, या यात्रा की थकान—वह कुछ देर के लिए लड़की की निगाहों से हटना चाहता था। वह अपने को हटाना चाहता था। "मैं अभी आता हूँ।" उसने कहा। लड़की ने सशंकित आँखों से उसे देखा, "क्या बाथरूम जायेंगे?" वह उसके साथ-साथ गुसलखाने तक चली आयी और जब उसने दरवाज़ा बन्द कर लिया, तो भी उसे लगता रहा, वह दरवाज़े के पीछे खड़ी है…

उसने बेसिनी में अपना मुँह डाल दिया और नलका खोल दिया। पानी झर-झर उसके चेहरे पर बहने लगा—और वह सिसकने-सा लगा, आधे बने हुए शब्द उसकी छाती के खोखल से बाहर निकलने लगे, जैसे भीतर जमी हुई काई उलट रहा हो, उलटी, जो सीधी दिन में बाहर आती है—वह टेबलेट जो कुछ देर पहले खायी थी, अब पीले चूरे-सी बेसिनी के संगमरमर पर तैर रही थी। फिर उसने नल बन्द कर दिया और रूमाल निकालकर मुँह पोंछा। बाथरूम की खूँटी पर स्त्री के मैले कपड़े टँगे थे—प्लास्टिक की एक चौड़ी बाल्टी में अण्डरवियर और ब्रेसियर साबुन में डूबे थे। खिड़की खुली थी और बाग का पिछवाड़ा धूप में चमक रहा था। वहीं

किसी दूसरे बाग से घास कटने की उनींदी-सी घुर्र-घुर्र पास आ रही थी'''

वह जल्दी से बाथरूम का दरवाजा बन्द करके कमरे में चला आया। सारे घर में सन्नाटा था। वह किचन में आया, तो लड़की दिखायी नहीं दी। वह ड्राइंग रूम में लौटा, तो वह भी खाली पड़ा था। उसे सन्देह हुआ कि वह ऊपरवाले कमरे में अपनी माँ के पास बैठी है। एक अजीब आतंक ने उसे पकड़ लिया। घर जितना शान्त था, उतना ही खतरे से अटा जान पड़ा। वह कोने में गया, जहाँ उसका सूटकेस रखा था, वह जल्दी-जल्दी उसे खोलने लगा। उसने अपने कान्फ्रेंस के नोट्स और कागज अलग किये, उनके नीचे से वह सारा सामान निकालने लगा, जो वह दिल्ली से अपने साथ लाया था—एम्पोरियम का राजस्थानी लहँगा (लड़की के लिए), ताँबे और पीतल के ट्रिंकेट्स, जो उसने जनपथ पर तिब्बती लामा सिप्पियों से खरीदे थे, पशमीने की कश्मीरी शाल (बच्ची की माँ के लिए), एक लाल, गुजराती जरीदार स्लीपर, जिसे बच्ची और माँ दोनों पहन सकते थे, हैण्ड-लूम के बैडकवर, हिन्दुस्तानी टिकटों की अल्बम—और एक बहुत बड़ी, सचित्र किताब, 'बनारस : द एटर्नल सिटी।' फर्श पर धीरे-धीरे एक छोटा-सा हिन्दुस्तान जमा हो गया था, जिसे वह हर बार यूरोप आते समय अपने साथ ढो लाता था।

सहसा उसके हाथ ठिठक गये। वह कुछ देर तक चीजों के ढेर को देखता रहा। कमरे के फर्श पर बिखरी हुई वे बिल्कुल अनाथ और दयनीय दिखायी दे रही थीं। एक पागल-सी इच्छा हुई कि वह उन्हें कमरे में जैसे का तैसा छोड़कर भाग खड़ा हो। किसी को पता भी नहीं चलेगा, वह कहाँ चला गया? लड़की थोड़ा-बहुत जरूर हैरान होगी, किन्तु बरसों से वह उससे ऐसे ही अचानक मिलती रही थी और बिना कारण बिछुड़ती रही थी। 'यू आर ए कमिंग मैन एण्ड ए गोइंग मैन', वह उससे कहा करती थी, पहले विषाद में और बाद में कुछ-कुछ हँसी में'''उसे कमरे में न बैठा देख-कर लड़की को ज्यादा सदमा नहीं पहुँचेगा। वह ऊपर जायेगी और माँ से कहेगी, "अब तुम नीचे आ सकती हो; वह चले गये।" फिर वे दोनों एक-साथ नीचे आयेंगी, और उन्हें राहत मिलेगी कि अब उन दोनों के अलावा घर में कोई नहीं है।

"पापा !"

वह चौंक गया, जैसे रंगे हाथों पकड़ा गया हो। खिसियानी-सी मुस्कराहट में लड़की को देखा—वह कमरे की चौखट पर खड़ी थी और खुले हुए सूटकेस को ऐसे देख रही थी, जैसे वह कोई जादू की पिटारी हो, जिसने अपने पेट से अचानक रंग-बिरंगी चीजों को उगल दिया हो। लेकिन उसकी आँखों में कोई खुशी नहीं थी, एक शर्म-सी थी, जब बच्चे अपने बड़ों को कोई ऐसी ट्रिक करते हुए देखते हैं जिसका भेद उन्हें पहले से मालूम होता है; वे अपने संकोच को छिपाने के लिए कुछ ज्यादा ही उत्सुक हो जाते हैं।

"इतनी चीजें?" वह आदमी के सामने कुर्सी पर बैठ गयी, "कैसे लाने दीं? सुना है आजकल कस्टमवाले बहुत तंग करते हैं।"

"नहीं, इस बार उन्होंने कुछ नहीं किया", आदमी ने उत्साह में आकर कहा, "शायद इसलिए कि मैं सीधे फ्रैंकफर्ट से आ रहा था। उन्हें सिर्फ एक चीज पर शक हुआ था।" उसने मुस्कराते हुए लड़की की ओर देखा।

"किस चीज पर?" लड़की ने इस बार सच्ची उत्सुकता से पूछा।

उसने अपने बैग से दालमोठ का डिब्बा निकाला और उसे खोलकर मेज पर रख दिया। लड़की ने झिझकते हुए दो-चार दाने उठाये और उन्हें सूँघने लगी, "क्या है यह?" उसने जिज्ञासा से आदमी को देखा।

"वे भी इसी तरह सूँघ रहे थे," वह हँसने लगा, "उन्हें डर था कि कहीं इसमें चरस-गांजा तो नहीं है।"

"हैश?" लड़की की आँखें फैल गयी, "क्या इसमें सचमुच हैश मिली है?"

"खाकर देखो।"

लड़की ने कुछ दालमोठ मुँह में डाले और उन्हें चबाने लगी, फिर हलाट-सी होकर सी-सी करने लगी।

"मिर्चें होंगी—थूक दो!" आदमी ने कुछ घबराकर कहा।

किन्तु लड़की ने उन्हें निगल लिया और छलछलाई आँखों से बाप को देखने लगी।

"तुम भी पागल हो···सब निगल बैठी।" आदमी ने जल्दी से उसे पानी का गिलास दिया, जो वह उसके लिए लायी थी।

"मुझे पसन्द है।" लड़की ने जल्दी से पानी पिया और अपनी कमीज़ की मुड़ी हुई बाँहों से आँखें पोंछने लगी। फिर मुस्कराते हुए आदमी की ओर देखा, "आई लव ईट।" वह कई बातें सिर्फ आदमी का मन रखने के लिए करती थी। उनके बीच बहुत कम मुहलत रहती थी और वह उसके निकट पहुँचने के लिए ऐसे शार्टकट लेती थी, जिसे दूसरे बच्चे महीनों में पार करते हैं।

"क्या उन्होंने भी इसे चखकर देखा था ?" लड़की ने पूछा।

"नहीं, उनमें इतनी हिम्मत कहाँ थी। उन्होंने सिर्फ मेरा सूटकेस खोला, मेरे कागजों को उलटा-पलटा और जब उन्हें पता चला कि मैं कान्फ्रेंस मे आ रहा हूँ तो उन्होंने कहा, 'मिस्टर, यू मे गो।'"

"क्या कहा उन्होंने ?" लड़की हँस रही थी।

"उन्होंने कहा, 'मिस्टर यू मे गो, लाइक एन इण्डियन क्रो!' आदमी ने भेदभरी निगाहों से उसे देखा। 'क्या है यह ?'"

लड़की हँसती रही—जब वह बहुत छोटी थी और आदमी के साथ पार्क में घूमने जाती थी, तो वे यह सिरफिरा खेल खेलते थे। वह पेड़ की ओर देखकर पूछता था, ओ डियर, इज़ देयर एनीथिंग टू सी ? और लड़की चारों तरफ देखकर कहती थी, येस डियर, देयर इज़ ए क्रो ओवर द ट्री। आदमी विस्मय से उसकी ओर देखता। क्या है यह ? और वह विजयोल्लास में कहती—पोयम !

ए पोयम ! बढ़ती हुई उम्र में छूटते हुए बचपन की छाया सरक आयी—पार्क की हवा, पेड़, हँसी। वह बाप की उँगली पकड़कर सहसा एक ऐसी जगह आ गयी, जिसे वह मुद्दत पहले छोड़ चुकी थी, जो कभी-कभार रात को सोते हुए सपनों में दिखायी दे जाती थी···

"मैं तुम्हारे लिए कुछ इण्डियन सिक्के लाया था···तुमने पिछली बार कहा था न!"

"दिखाओ, कहाँ हैं ?" लड़की ने कुछ जरूरत से ज़्यादा ही ललकते हुए पूछा।

आदमी ने सलमे-सितारों से जड़ी एक लाल थैली उठायी—जिसे हिप्पी लोग अपने पासपोर्ट के लिए खरीदते थे। लड़की ने उसे उसके हाथ से छीन

लिया और हवा में झुलाने लगी। भीतर रखी चवन्नियाँ, अठन्नियाँ, चहचहाने लगीं, फिर उसने थैली का मुँह खोला और सारे पैसों को मेज पर बिखेर दिया।

"हिन्दुस्तान में क्या सब लोगों के पास ऐसे ही सिक्के होते हैं?"

वह हँसने लगा, "और क्या सबके लिए अलग-अलग बनेंगे?" उसने कहा।

"लेकिन गरीब लोग?" उसने आदमी को देखा, "मैंने एक रात टी.वी. में उन्हें देखा था।" वह सिक्कों को भूल गयी और कुछ असमंजस में फर्श पर बिखरी चीजों को देखने लगी। तब पहली बार आदमी को लगा—वह लड़की जो उसके सामने बैठी है, कोई दूसरी है। पहचान का फ्रेम वही है जो उसने दो साल पहले देखा था लेकिन बीच की तस्वीर बदल गयी है। किन्तु वह बदली नहीं थी, वह सिर्फ कहीं और चली गयी थी। वे माँ-बाप जो अपने बच्चों के साथ हमेशा नहीं रहते, उन गोपनीय मंजिलों के बारे में कुछ नहीं जानते जो उनके अभाव की नींव पर ऊपर ही ऊपर बनती रहती हैं, लड़की अपने बचपन की बेसमेण्ट में आकर ही पिता से मिल पाती थी, लेकिन कभी-कभी उसे छोड़कर दूसरे कमरों में चली जाती थी, जिसके बारे में आदमी को कुछ भी मालूम नहीं था।

"पापा!" लड़की ने उसकी ओर देखा, "क्या मैं इन चीजों को समेटकर रख दूँ?"

"क्यों, इतनी जल्दी क्या है?"

"नहीं, जल्दी नहीं···लेकिन मामा आकर देखेंगी तो···!" उसके स्वर में हल्की-सी घबराहट थी, जैसे वह हवा में किसी अदृश्य खतरे को सूँघ रही हो।

"आयेंगी तो क्या?" आदमी ने कुछ विस्मय से लड़की को देखा।

"पापा, धीरे बोलो···!" लड़की ने ऊपर कमरे की तरफ देखा, ऊपर सन्नाटा था, जैसे घर की एक देह हो, दो में बँटी हुई, जिसका एक हिस्सा सुन्न और निस्पन्द पड़ा हो, दूसरे में वे दोनों बैठे थे। और तब उसे भ्रम हुआ कि लड़की कोई कठपुतली का नाटक कर रही है। ऊपर के धागे से बँधी हुई, जैसे वह खिंचता है, वैसे वह हिलती है, लेकिन वह न धागे को देख

सकता है, न उसे, जो उसे हिलाता है···

वह उठ खड़ा हुआ। लड़की ने आतंकित होकर उसे देखा, "आप कहाँ जा रहे हैं?"

"वह नीचे नहीं आयेंगी?" उसने पूछा।

"उन्हें मालूम है, आप यहाँ हैं।" लड़की ने कुछ खीजकर कहा।

"इसीलिए वह नहीं आना चाहतीं?"

"नहीं···।" लड़की ने कहा, "इसीलिए वह कभी भी आ सकती हैं।"

कैसे पागल हैं। इतनी छोटी-सी बात नहीं समझ सकते। "आप बैठिए, मैं अभी इन सब चीज़ों को समेट लेती हूँ।"

वह फर्श पर उकड़ूँ बैठ गयी; बड़ी सफाई से हर चीज़ को उठाकर कोने में रखने लगी। मखमल की जूती, पशमीने की शाल, गुजरात एम्पोरियम का बैडकवर। उसकी पीठ पिता की ओर थी, किन्तु वह उसके हाथ देख सकता था, पतले और साँवले, बिल्कुल अपनी माँ की तरह, वैसे ही निस्संग और ठण्डे, जो उसकी लायी चीज़ों को आत्मीयता से पकड़ते नहीं थे, सिर्फ अनमने भाव से अलग ठेल देते थे। वे एक ऐसी बच्ची के हाथ थे, जिसने सिर्फ माँ के सीमित और सुरक्षित स्नेह को छूना सीखा था, मर्द के उत्सुक और पीड़ित उन्माद को नहीं जो पिता के सेक्स की काली कन्दरा से उमड़ता हुआ बाहर आता है।

अचानक लड़की के हाथ ठिठक गये। उसे लगा, कोई दरवाज़े की घण्टी बजा रहा है लेकिन दूसरे ही क्षण फोन का ध्यान आया जो ज़ीने के नीचे कोटर में था और जंजीर से बँधे पिल्ले की तरह जोर-जोर से चीख रहा था। लड़की ने चीजें वैसे ही छोड़ दीं और लपकते हुए सीढ़ियों के पास गयी, फोन उठाया, एक क्षण तक कुछ सुनायी नहीं दिया। फिर वह चिल्लायी—

"मामा, आपका फोन!"

बच्ची बेनिस्टर के सहारे खड़ी थी, हाथ में फोन झुलाती हुई। ऊपर का दरवाजा खुला और ज़ीना हिलने लगा। कोई नीचे आ रहा था, फिर एक सिर लड़की के चेहरे पर झुका, गुँथा हुआ जूड़ा और फोन के बीच एक पूरा चेहरा उभर आया···

"किसका है?" औरत ने अपने लटकते हुए जूड़े को पीछे धकेल दिया

और लड़की के हाथ से फोन खींच लिया। आदमी कुर्सी से उठा···लड़की ने उसकी ओर देखा। "हलो", औरत ने कहा। "हलो, हलो", औरत की आवाज ऊपर उठी और तब उसे पता चला, कि यह उस स्त्री की आवाज है, जो उसकी पत्नी थी, वह उसे बरसों बाद भी सैंकड़ों आवाजों की भीड़ में पहचान सकता था···ऊँची पिच पर हल्के-से काँपती हुई, हमेशा से सख्त, आहत, परेशान, उसकी देह की एकमात्र चीज, जो देह से परे आदमी की आत्मा पर खून की खरोंच खींच जाती थी···वह जैसे उठा था, वैसे ही बैठ गया।

लड़की मुस्करा रही थी।

वह हैंगर के आईने से आदमी का चेहरा देख रही थी—और वह चेहरा कुछ वैसा ही बेडौल दिखायी दे रहा था जैसे उम्र के आईने से औरत की आवाज—उल्टा, टेढ़ा, पहेली-सा रहस्यमय! वे तीनों व्यक्ति अनजाने में घर में बँट गये थे—लड़की, उसकी माँ, वह और उसकी पत्नी···घर जब गृहस्थी में बदलता है, तो अपने-आप फैलता जाता है

"तुम जेनी से बात करोगी?" औरत ने लड़की से कहा और बच्ची जैसे इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी। वह उछलकर ऊपरी सीढ़ी पर आयी और माँ से टेलीफोन ले लिया, "हलो जेनी, इट इज मी!"

वह दो सीढ़ियाँ नीचे उतरी; अब आदमी उसे पूरा-का-पूरा देख सकता था।

"बैठो · ", आदमी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। उसके स्वर में एक बेबस-सा अनुनय था, मानो उसे डर हो कि कहीं उसे देखकर वह उल्टे पाँव न लौट जाये।

वह एक क्षण अनिश्चय में खड़ी रही। अब वापस मुड़ना निरर्थक था, लेकिन इस तरह उसके सामने खड़े रहने का भी कोई तुक नहीं था। वह स्टूल खींचकर टी. वी. के आगे बैठ गयी।

"कब आये?" उसका स्वर इतना धीमा था कि आदमी को लगा, टेलीफोन पर कोई दूसरी औरत बोल रही थी।

"काफी देर हो गयी···मुझे तो पता भी न था कि तुम ऊपर कमरे में हो!"

स्त्री चुपचाप उसे देखती रही।

आदमी ने जेब से रूमाल निकाला, पसीना पोंछा, मुस्कराने की कोशिश में मुस्कराने लगा। "मैं बहुत देर तक बाहर खड़ा रहा, मुझे पता नहीं था, घण्टी खराब है। गैराज खाली पड़ा था, मैंने सोचा, तुम दोनों कहीं बाहर गये हो...तुम्हारी कार?" उसे मालूम था, फिर भी उसने पूछा।

"सर्विसिंग के लिए गयी है!" स्त्री ने कहा। वह हमेशा से उसकी छोटी, बेकार की बातों से नफरत करती आयी थी, जबकि आदमी के लिए वे कुछ ऐसे तिनके थे, जिन्हें पकड़कर डूबने से बचा जा सकता था। कम-से-कम कुछ देर के लिए...

"तुम्हें मेरा टेलीग्राम मिल गया था? मैं फ्रैंकफर्ट आया था, उसी टिकट पर यहाँ आ गया; कुछ पौण्ड ज्यादा देने पड़े। मैंने तुम्हें वहाँ से फोन भी किया, लेकिन तुम दोनों कहीं बाहर थे..."

"कब?" औरत ने हल्की जिज्ञासा से उसकी ओर देखा, "हम दोनों घर में थे।"

"घण्टी बज रही थी, लेकिन किसी ने उठाया नहीं। हो सकता है, आपरेटर मेरी अंग्रेजी नहीं समझ सकी और गलत नम्बर दे दिया हो! लेकिन सुनो।" वह हँसने लगा, "एक अजीब बात हुई। हीथ्रो पर मुझे एक औरत मिली, जो पीछे से बिल्कुल तुम्हारी तरह दिखायी दे रही थी, यह तो अच्छा हुआ मैंने उसे बुलाया नहीं...हिन्दुस्तान के बाहर हिन्दुस्तानी औरतें एक जैसी ही दिखायी देती हैं...।" वह बोले जा रहा था। वह उस आदमी की तरह था जो आँखों पर पट्टी बाँधकर हवा में तनी हुई रस्सी पर चलता है, स्त्री कहीं बहुत नीचे थी, एक सपने में, जिसे वह बहुत पहले कभी जानता था, किन्तु अब उसे याद नहीं आ रहा था कि वह उसके सामने क्यों बैठा था?

वह चुप हो गया। उसे ख्याल आया, इतनी देर से वह सिर्फ अपनी आवाज सुन रहा है, उसके सामने बैठी स्त्री बिल्कुल चुप बैठी थी। उसकी ओर बहुत ठण्डी और हताश निगाहों से देख रही थी।

"क्या बात है?" आदमी ने कुछ भयभीत-सा होकर पूछा।

"मैंने तुमसे मना किया था; तुम समझते क्यों नहीं?"

"किसके लिए? तुमने किसके लिए मना किया था?"

"मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती...मेरे घर तुम ये सब चीज़ें क्यों लाते हो; क्या फ़ायदा है इनका?"

पहले क्षण वह नहीं समझा, कौन-सी चीज़ें? फिर उसकी निगाहें फ़र्श पर गयीं: शान्ति-निकेतन का पर्स, डाक टिकटों का अल्बम, दालचीनी का डिब्बा—वे अब बिल्कुल लुटी-पिटी दिखायी दे रही थीं, जैसे वह कुर्सी पर बैठा हुआ, वैसी वे फ़र्श पर बिखरी हुईं। "कौन-सी ज़्यादा हैं?" उसने मिमियाते हुए कहा, "इन्हें न लाता तो आधा सूटकेस खाली पड़ा रहता।"

"लेकिन मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती...तुम क्या इतनी-सी बात नहीं समझ सकते?"

स्त्री की आवाज़ काँपती हुई ऊपर उठी, जिसके पीछे न जाने कितनी लड़ाइयों की पीड़ा, कितने नरकों का पानी भरा था, जो बाँध टूटते ही उसके पास आने लगा, एक-एक इंच आगे बढ़ता हुआ। उसने जेब से रूमाल निकाला और अपने लथपथ चेहरे को पोंछने लगा।

"क्या तुम्हें इतनी देर के लिए आना भी बुरा लगता है?"

"हाँ...।" उसका चेहरा तन गया, फिर अजीब हताशा में वह ढीली पड़ गयी, "मैं तुम्हें देखना नहीं चाहती—बस!"

क्या यह इतना आसान है! वह ज़िद्दी लड़के की तरह उसे देखने लगा, जो सवाल समझ लेने के बाद भी बहाना करता है कि उसे कुछ समझ में नहीं आया। "कुक्कू!" उसने धीरे से कहा, "प्लीज़!"

"मुझे माफ़ करो...।" औरत ने कहा।

"तुम चाहती क्या हो?"

"लीव मी अलोन...। इससे ज़्यादा मैं कुछ और नहीं चाहती।"

"मैं बच्चों से भी मिलने नहीं आ सकता?"

"इस घर में नहीं, तुम उनसे कहीं बाहर मिल सकते हो?"

"बाहर!" आदमी ने हकबकाकर सिर उठाया, "बाहर कहाँ?"

उस क्षण वह भूल गया कि बाहर सारी दुनिया फैली है, पार्क, सड़कें, होटल के कमरे—उसका अपना संसार—बच्चे कहाँ-कहाँ उसके साथ फिरेंगे?

वह फ़ोन पर हँस रही थी। कुछ कह रही थी—"नहीं,.. मैं नहीं

आ सकती। डैडी घर में हैं, अभी-अभी आ रहे हैं···नहीं, मुझे मालूम नहीं। मैंने पूछा नहीं···।" क्या नहीं मालूम? शायद उसकी सहेली ने पूछा था, वह कितने दिन रहेगा? सामने बैठी स्त्री भी शायद यह जानना चाहती थी, कितना समय, कितनी घड़ियां, कितनी यातना अभी और उसके साथ भोगनी पड़ेगी?

शाम की आखिरी धूप भीतर आ रही थी। टी. वी. का स्क्रीन चमक रहा था, लेकिन वह खाली था और उसमें सिर्फ स्त्री की छाया बैठी थी, जैसे खबरें शुरू होने से पहले एनाउंसर की छवि दिखायी देती है, पहले कमजोर और धुंधली, फिर धीरे-धीरे 'ब्राइट' होती हुई···वह साँस रोके प्रतीक्षा कर रहा था कि वह कुछ कहेगी हालांकि उसे मालूम था कि पिछले वर्षों में सिर्फ एक न्यूज-रील है जो हर बार मिलने पर एक पुरानी पीड़ा का टेप खोलने लगती है, जिसका सम्बन्ध किसी दूसरी जिन्दगी से है···चीजें और आदमी कितनी अलग हैं! बरसों बाद भी घर, किताबें, कमरे वैसे ही रहते हैं, जैसा तुम छोड़ गये थे; लेकिन लोग? वे उसी दिन से मरने लगते हैं, जिस दिन से अलग हो जाते हैं··· मरते नहीं, एक दूसरी जिन्दगी जीने लगते हैं, जो धीरे-धीरे उस जिन्दगी का गला घोंट देती है, जो तुमने साथ गुजारी थी···

"मैं सिर्फ बच्ची से नहीं···" वह हकलाने लगा, "मैं तुमसे भी मिलने आया था।"

"मुझसे?" औरत के चेहरे पर हँसी, हिकारत, हैरानी एकसाथ उमड़ आयीं, "तुम्हारी झूठ की आदत अभी तक नहीं गयी!"

"तुमसे झूठ बोलकर अब मुझे क्या मिलेगा?"

"मालूम नहीं, तुम्हें क्या मिलेगा—मुझे जो मिला है, उसे मैं भोग रही हूँ।" उसने एक ठहरी ठण्डी निगाह से बाहर देखा। "मुझे अगर तुम्हारे बारे में पहले से ही कुछ मालूम होता, तो मैं कुछ कर सकती थी।"

"क्या कर सकती थीं?" एक ठण्डी-सी झुरझुरी ने आदमी को पकड़ लिया।

"कुछ भी।" मैं तुम्हारी तरह अकेली नहीं रह सकती; लेकिन अब इस उम्र में···अब कोई मुझे देखता भी नहीं।"

"बुक्कू…!" उसने हाथ पकड़ लिया।

"मेरा नाम मत लो" वह सब खत्म हो गया।"

वह रो रही थी; बिल्कुल निस्संग, जिसका गुजरे हुए आदमी और आनेवाली उम्मीद–दोनों से कोई सरोकार नहीं थी। आँसू, जो एक कारण से नहीं, पूरा पत्थर हट जाने से आते हैं, एक ढलुआ जिन्दगी पर नाले की तरह बहते हुए, औरत बार-बार उन्हें अपने हाथ से झटक देती थी…

बच्ची कब से फोन के पास चुप बैठी थी। वह जीने की सबसे निचली सीढ़ी पर बैठी थी और सूखी आँखों से रोती माँ को देख रही थी। उसके सब प्रयत्न निष्फल हो गये थे, किन्तु उसके चेहरे पर निराशा नहीं थी। हर परिवार के अपने दुःस्वप्न होते हैं जो एक अनवरत पहिये में घूमते हैं, वह उसमें हाथ नहीं डालती थी। इतनी कम उम्र में वह इतना बड़ा सत्य जान गयी थी कि मनुष्य के मन और बाहर की सृष्टि में एक अद्भुत समानता है—वे जब तक अपना चक्कर पूरा नहीं कर लेते, उन्हें बीच में रोकना बेमानी है…।

वह बिना आदमी को देखे माँ के पास गयी; कुछ कहा, जो उसके लिए नहीं था। औरत ने उसे अपने पास बिठा लिया, बिल्कुल अपने से सटाकर। काऊच पर बैठी वे दोनों दो बहनों-सी लग रही थीं। वे उसे भूल गयी थीं। कुछ देर पहले जो ज्वार उठा था, उसमें घर डूब गया था लेकिन अब पानी वापस लौट गया था और अब आदमी वहाँ था, जहाँ उसे होना चाहिए था—किनारे पर। उसे यह ईश्वर का वरदान जैसा जान पड़ा; वह दोनों के बीच बैठा है—अदृश्य! बरसों से उसकी यह साध रही थी कि वह माँ और बेटी के बीच अदृश्य बैठी रहे। सिर्फ ईश्वर ही अपनी दया में अदृश्य होता है—यह उसे मालूम था। किन्तु जो आदमी गढ़हे की सबसे निचली सतह पर जीता है, उसे भी कोई नहीं देख सकता। माँ और बच्ची ने उसे अलग छोड़ दिया था; यह उसकी उपेक्षा नहीं थी। उसकी तरफ से मुँह मोड़कर उन्होंने उसे अपने पर छोड़ दिया था—ठीक वहीं—जहाँ उसने बरसों पहले घर छोड़ा था।

लड़की माँ को छोड़कर उसके पास आकर बैठ गयी।

"हमारा बाग देखने चलोगे?" उसने कहा।

"अभी?" उसने कुछ विस्मय से लड़की को देखा। वह कुछ अधीर

और उतावली-सी दिखायी दे रही थी, जैसे वह उससे कुछ कहना चाहती हो, जिसे कमरे के भीतर कहना असम्भव हो।

"चलो," आदमी ने उठते हुए कहा, "लेकिन पहले इन चीजों को ऊपर ले जाओ।"

"हम इन्हें बाद में समेट लेंगे।"

"बाद में कब ?" आदमी ने कुछ सशंकित होकर पूछा।

"आप चलिए तो !" लड़की ने लगभग उसे घसीटते हुए कहा।

"इनसे कहो, अपना सामान सूटकेस में रख लें।" स्त्री की आवाज सुनायी दी।

उसे लगा, किसी ने अचानक पीछे से धक्का दिया हो। वह चमककर पीछे मुड़ा, "क्यों ?"

"मुझे इनकी कोई जरूरत नहीं है।"

उसके भीतर एक लपलपाता अन्धड़ उठने लगा, "मैं नहीं ले जाऊँगा; तुम चाहो तो इन्हें बाहर फेंक सकती हो।"

"बाहर ?" स्त्री की आवाज थरथरा रही थी, "मैं इनके साथ तुम्हें भी बाहर फेंक सकती हूँ।" रोने के बाद उसकी आँखें चमक रही थीं; गालों का गीलापन सूखे काँच-सा जम गया था, जो पोंछे हुए नहीं, सूखे हुए आँसुओं से उभरकर आता है।

"क्या हम बाग देखने नहीं चलेंगे ?" बच्ची ने उसका हाथ खींचा—और वह उसके साथ चलने लगा। वह कुछ भी नहीं देख रहा था। घास, क्यारियाँ और पेड़ एक गूंगी फिल्म की तरह चल रहे थे। सिर्फ उसकी पत्नी की आवाज़ एक भुतैली कमेण्ट्री की तरह गूंज रही थी—बाहर, बाहर, बाहर !

"आप ममी के साथ बहस क्यों करते हैं ?" लड़की ने कहा।

"मैंने बहस कहाँ की ?" उसने बच्ची को देखा—जैसे वह भी उसकी दुश्मन हो।

"आप करते हैं।" लड़की का स्वर अजीब-सा हठीला हो आया था। वह अंग्रेजी में 'यू' कहती थी, जिसका मतलब प्यार में 'तुम' होता था और नाराजगी में 'आप'। अंग्रेजी सर्वनाम की यह सन्दिग्धता बाप-बेटी के रिश्ते

को हवा में टाँगे रहती थी, कभी बहुत पास, कभी बहुत पराया— जिसका सही अन्दाज उसे सिर्फ लड़की की टोन में टटोलना पड़ता था। एक अजीब-से भय ने आदमी को पकड़ लिया। वह एक ही समय में माँ और बच्ची दोनों को नहीं खोना चाहता था।

"बड़ा प्यारा बाग है," उसने फुसलाते हुए कहा, "क्या माली आता है?"

"नहीं, माली नहीं।" लड़की ने उत्साह से कहा, "मैं शाम को पानी देती हूँ और छुट्टी के दिन ममी घास काटती हैं···इधर आओ, मैं तुम्हें एक चीज दिखाती हूँ।"

वह उसके पीछे-पीछे चलने लगा। लॉन बहुत छोटा था—हरा, पीला, मखमली! पीछे गैराज था और दोनों तरफ झाड़ियों की फेंस लगी थी। बीच में एक घना, बूढ़ा, विलो खड़ा था। लड़की पेड़ के पीछे छिप-सी गयी, फिर उसकी आवाज सुनायी दी, "कहाँ हो तुम?"

वह चुपचाप, दबे-पाँवों से पेड़ के पीछे चला आया और हैरान-सा खड़ा रहा। विलो और फेंस के बीच काली लकड़ी का बाड़ा था, जिसके दरवाजे से एक खरगोश बाहर झाँक रहा था, दूसरा खरगोश लड़की की गोद में था। वह उसे ऐसे सहला रही थी, जैसे वह ऊन का गोला हो, जो कभी भी हाथ से छूटकर झाड़ियों में गुम हो जायेगा।

"ये हमने अभी पाले हैं···पहले दो थे, अब चार।"

"बाकी कहाँ हैं?"

"बाड़े के भीतर···वे अभी बहुत छोटे हैं।"

पहले उसका मन भी खरगोश को छूने के लिए हुआ, किन्तु उसका हाथ अपने-आप बच्ची के सिर पर चला गया और वह धीरे-धीरे उसके भूरे, छोटे बालों से खेलने लगा। लड़की चुप खड़ी रही और खरगोश अपनी नाक सिकोड़ता हुआ उसकी ओर ताक रहा था।

"पापा?" लड़की ने बिना सिर उठाये धीरे-से कहा, "क्या आपने डे-रिटर्न का टिकट लिया है?"

"नहीं, क्यों?"

"ऐसे ही; यहाँ वापसी टिकट बहुत सस्ता मिल जाता है।"

क्या उसने यही पूछने के लिए उसे यहाँ बुलाया था ? उसने धीरे...
ना हाथ लड़की के सिर से हटा लिया।
"आप रात को कहाँ रहेंगे ?" लड़की का स्वर बिल्कुल भावहीन था।
"अगर मैं यहीं रहूँ तो ?"
लड़की ने धीरे-से खरगोश को बाड़े में रख दिया और खट-से दरवाजा वन्द कर दिया।
"मैं हँसी कर रहा था", उसने हँसकर कहा, "मैं आखिरी ट्रेन से लौट जाऊँगा।"
लड़की ने मुड़कर उसकी ओर देखा, "यहाँ दो-तीन अच्छे होटल भी हैं...। मैं अभी फोन करके पूछ लेती हूँ।" बच्ची का स्वर बहुत कोमल हो आया। यह जानते ही कि वह रात को घर में नहीं ठहरेगा, वह माँ से हट-कर आदमी के साथ हो गयी; धीरे-से उसका हाथ पकड़ा, उसे वैसे ही सहलाने लगी, जैसे अभी कुछ देर पहले खरगोश को सहला रही थी। लेकिन आदमी का हाथ पसीने से तरबतर था।
"सुनो, मैं अगली छुट्टियों में इण्डिया आऊँगी—इस बार पक्का है।"
उसे कुछ आश्चर्य हुआ कि आदमी ने कुछ नहीं कहा; सिर्फ बाड़े में खरगोशों की खटर-पटर सुनायी दे रही थी।
"पापा...तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ?"
"तुम हर साल यही कहती हो।"
"कहती हूँ...लेकिन इस बार मैं आऊँगी; डोण्ट यू बिलीव मी ?"
"भीतर चलें ? ममी हैरान हो रही होंगी कि हम कहाँ रह गये।"
अगस्त का अंधेरा चुपचाप चला आया था। हवा में विलो की पत्ति... सरसरा रही थीं। कमरों के परदे गिरा दिये गये थे, लेकिन रसोई... दरवाजा खुला था। लड़की भागते हुए भीतर गयी और सिंक का... खोलकर हाथ धोने लगी। वह उसके पीछे आकर खड़ा हो गया; सि... ऊपर आईने में उसने अपना चेहरा देखा—रूखी गर्द और बढ़ी हुई... और सुर्ख आँखों के बीच उसकी ओर हैरत में ताकता हुआ—नहीं, ... लिए कोई उम्मीद नहीं...
"पापा, क्या तुम अब भी अपने-आपसे बोलते हो ?" लड़की ...

में भीगा अपना चेहरा उठाया—वह धीरे में उसे देख रही थी।

"हाँ, लेकिन अब मुझे कोई सुनता नहीं···।" उसने धीरे-से बच्ची के कन्धे पर हाथ रखा, "क्या फ्रिज में सोडा होगा ?"

"तुम भीतर चलो, मैं अभी लाती हूँ।"

कमरे में कोई न था। उसकी चीजें बटोर दी गयी थीं। सूटकेस कोने में खड़ा था; जब वे बाग में थे, उसकी पत्नी ने शायद उन सब चीजों को देखा होगा; उन्हें छुआ होगा। वह उससे चाहे कितनी नाराज क्यों न हो—चीजों की बात अलग थी। वह उन्हें ऊपर नहीं ले गयी थी, लेकिन दुबारा सूटकेस में डालने की हिम्मत नहीं की थी···उसने उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ दिया था।

कुछ देर बाद जब बच्ची सोडा और गिलास लेकर आयी, तो उसे सहसा पता नहीं चला कि वह कहाँ बैठा है। कमरे में अँधेरा था—पूरा अँधेरा नहीं—सिर्फ इतना, जिसमें कमरे में बैठा आदमी चीजों के बीच चीज जैसा दिखायी देता है, "पापा···तुमने बत्ती नहीं जलायी ?"

"अभी जलाता हूँ···।" वह उठा और स्विच को ढूँढने लगा, बच्ची ने सोडा और गिलास मेज पर रख दिया और टेबुल लैम्प जला दिया।

"ममी कहाँ है ?"

"वह नहा रही हैं, अभी आती होंगी।"

उसने अपने बैग से व्हिस्की निकाली, जो उसने फ्रैंकफर्ट के एयरपोर्ट पर खरीदी थी···गिलास में डालते हुए उसके हाथ ठिठक गये, "तुम्हारी जिंजर-एल कहाँ है ?"

"मैं अब असली बियर पीती हूँ।" लड़की ने हँसकर उसकी ओर देखा. "तुम्हें बर्फ चाहिए ?"

"नहीं···लेकिन तुम जा कहाँ रही हो ?"

"बाड़े में खाना डालने···नहीं तो वे एक-दूसरे को मार खायेंगे।"

वह बाहर गयी तो खुले दरवाजे से बाग का अँधेरा दिखायी दिया—तारों की पीली तलछट में झिलमिलाता हुआ। हवा नहीं थी। बाहर का सन्नाटा घर की अदृश्य आवाजों के भीतर से छनकर आता था। उसे लगा, वह अपने घर में बैठा है और जो कभी बरसों पहले होता था, वह अब दो

। वह शाँवर के नीचे गुनगुनाती रहती थी और जब वह वालों पर
ा साफे की तरह वाँधकर वाहर निकलती थी, तव पानी की वूँदें
म से लेकर उसके कमरे तक एक लकीर वनाती जाती थीं—पता नहीं
कीर कहाँ वीच में सूख गयी? कौन-सी जगह, किस खास मोड़ पर
चीज हाथ से छूट गयी, जिसे वह कभी दुवारा नहीं पकड़ सका?
उसने कुछ और व्हिस्की डाली; हालाँकि गिलास अभी खाली नहीं
ा था। उसे कुछ अजीव लगा कि पिछली रात भी यही घड़ी थी जव वह
रहा था; लेकिन तव वह हवा में था। जव उसे एयर-होस्टेस की आवाज
सुनायी दी कि हम चैनल पार कर रहे हैं तो उसने हवाई जहाज की खिड़की
से नीचे देखा—कुछ भी दिखायी नहीं देता था—न समुद्र, न लाइट हाउस,
सिर्फ अँधेरा, अँधेरे में वहता हुआ अँधेरा—फिर कुछ भी नहीं। और तव
नीचे अँधेरे में झाँकते हुए उसे खयाल आया कि वह चैनल जो नीचे कहीं
दिखायी नहीं देता था, असल में कहीं भीतर है—उसकी एक जिन्दगी से
दूसरी जिन्दगी तक फैला हुआ; जिसे वह हमेशा पार करता रहेगा, कभी
इधर, कभी उधर, कहीं का भी नहीं, न कहीं से आता हुआ, न कहीं पहुँचता
हुआ…।

"विन्दु कहाँ है?" उसने चौंककर ऊपर देखा, वह वहाँ कवसे खड़ी
थी, उसे पता नहीं चला था। "वाहर वाग में," उसने कहा, "खरगोशों
को खाना देने।"

वह अलग खड़ी थी, वेनिस्टर के नीचे। नहाने के वाद उसने एक लम्वी
मैक्सी पहन ली थी…। वाल खुले थे। चेहरा वहुत धुला और चमकीला-सा
लग रहा था। वह मेज पर रखे उसके गिलास को देख रही थी। उसका
चेहरा शान्त था; शाँवर ने जैसे न केवल उसके शरीर को, वल्कि उस
सन्ताप को भी धो डाला था।

"वर्फ भी रखी है।" उसने कहा।

"नहीं, मैंने सोडा ले लिया; तुम्हारे लिए एक वना दूँ?"

उसने सिर हिलाया, जिसका मतलव कुछ भी था; उसे मालूम
गर्म पानी से नहाने के वाद उसे कुछ ठण्डा पीना अच्छा लगता था
वाद भी वह उसकी आदतें नहीं भूला था, वल्कि उन आदतों के स

दोनों के बीच पुरानी पहचान लौट आती थी। वह रसोई में गया और उसके लिए एक गिलास ले आया। उसमें थोड़ी-सी बर्फ डाली। जब व्हिस्की मिलाने लगा, तो उसकी आवाज सुनायी दी—"बस, इतनी काफी है।"

वह घुली हुई आवाज थी, जिसमे कोई रंग नही था, न स्नेह का, न नाराजगी का—एक शान्त और तटस्थ आवाज। वह सीढ़ियों से हटकर कुर्सी के पास चली आयी थी।

"तुम बैठोगी नही?" उसने कुछ चिन्तित होकर पूछा।

उसने अपना गिलास उठाया और वही स्टूल पर बैठ गयी, जहाँ दुपहर को बैठी थी। टी. वी. के पास लेकिन टेबुल-लैम्प से दूर—जहाँ सिर्फ रोशनी की एक पतली-सी झाईं उस तक पहुँच रही थी।

कुछ देर तक दोनो मे से कोई कुछ नही बोला, फिर स्त्री की आवाज सुनायी दी, "घर मे सब लोग कैसे हैं?"

"ठीक हैं···ये सब चीजें उन्होने ही भेजी हैं।"

"मुझे मालूम है," औरत ने कुछ थके स्वर मे कहा, "क्यो उन बेचारो को तंग करते हो? तुम ढो-ढोकर इन चीजो को लाते हो और वे यहाँ बेकार पड़ी रहती हैं।"

"वे यही कर सकते हैं," उसने कहा, "तुम बरसो से वहाँ गयी नहीं; वे बहुत याद करते हैं।"

"अब जाने का कोई फायदा है?" उसने गिलास से लम्बा घूँट लिया, "मेरा अब उनसे कोई रिश्ता नहीं।"

"तुम बच्ची के साथ तो आ सकती हो, उसने अभी तक हिन्दुस्तान नहीं देखा।"

वह कुछ देर चुप रही···फिर धीरे-से कहा, "अगले साल वह चौदह वर्ष की हो जायेगी···कानून के मुताबिक तब वह कही भी जा सकती है।"

"मैं कानून की बात नही कर रहा; तुम्हारे बिना वह कही नही जायेगी।"

स्त्री ने गिलास की भीगी सतह से आदमी को देखा, "मेरा बस चले तो उसे वहाँ कभी न भेजूं।"

"क्यो?" आदमी ने उसकी ओर देखा।

धीरे-से हँसी, "क्या हम दो हिन्दुस्तानी उसके लिए क़ाफी नहीं

बैठा रहा। कुछ देर बाद रसोई का दरवाजा खुला, लड़की भीतर
चुपचाप दोनों को देखा और फिर ज़ीने के पास चली गयी, जहाँ
न रखा था।

"किसे कर रही हो?" औरत ने पूछा।

लड़की चुप रही, फोन का डायल घुमाने लगी।

आदमी उठा, उसकी ओर देखा, "थोड़ा-सा और लोगी?"

"नहीं...।" उसने सिर हिलाया। आदमी धीरे-धीरे अपने गिलास में
लने लगा।

"क्या बहुत पीने लगे हो?" औरत ने कहा।

"नहीं...।" आदमी ने सिर हिलाया, "सफर में कुछ ज्यादा ही हो
जाता है।"

"मैंने सोचा था, अब तक तुमने घर बसा लिया होगा।"

"कैसे?" उसने स्त्री को देखा, "तुम्हें यह कैसे भ्रम हुआ?"

औरत कुछ देर तक नीरव आँखों से उसे देखती रही, "क्यों, उस लड़की का क्या हुआ? वह तुम्हारे साथ नहीं रहती?" स्त्री के स्वर में कोई उत्तेजना नहीं थी, न क्लेश की कोई छाया थी...जैसे दो व्यक्ति मुद्दत बाद किसी ऐसी घटना की चर्चा कर रहे हों जिसने एक झटके से दोनों को अलग छोरों पर फेंक दिया था।

"मैं अकेला रहता हूँ...माँ के साथ।" उसने कहा।

औरत ने तनिक विस्मय से उसे देखा, "क्या बात हुई?"

"कुछ नहीं...मैं शायद साथ रहने के काबिल नहीं हूँ।" उसका स्वर असाधारण रूप से धीमा हो आया, जैसे वह उसे अपनी किसी गुप्त बीमारी के बारे में बता रहा हो, "तुम हैरान हो? लेकिन ऐसे लोग होते हैं..."

वह कुछ और कहना चाहता था, प्रेम के बारे में, वफादारी के बारे में विश्वास और धोखे के बारे में; कोई बड़ा सत्य, जो बहुत-से झूठों से मिल कर बनता है, व्हिस्की की धुन्ध में बिजली की तरह कौंधता है और दूस
क्षण हमेशा के लिए अँधेरे में लोप हो जाता है...

लड़की शायद इस क्षण की ही प्रतीक्षा कर रही थी; वह टेलीफोन से उठकर आदमी के पास आयी, एक बार माँ को देखा, वह टेबुल-लैम्प के पीछे अँधेरे के आधे कोने में छिप गयी थीं, और आदमी ? वह गिलास के पीछे सिर्फ एक डबडबाता-सा धब्बा बनकर रह गया था।

"पापा", लड़की के हाथ में कागज का पुरजा था, "यह होटल का नाम है, टैक्सी तुम्हें सिर्फ दस मिनट में पहुँचा देगी।"

उसने लड़की को अपने पास खींच लिया और कागज जेब में रख लिया। कुछ देर तक तीनों चुप बैठे रहे, जैसे बरसों पहले यात्रा पर निकलने से पहले घर के सब प्राणी एकसाथ सिमटकर चुप बैठ जाते थे। बाहर बहुत-से तारे निकल आये थे, जिसमें बूढ़ी बिल्ली, झाड़ियाँ और खरगोशों का बाड़ा एक निस्पन्द पीले आलोक में पास-पास सरक आये थे।

उसने अपना गिलास मेज पर रखा, फिर धीरे-से लड़की को चूमा, अपना सूटकेस उठाया और जब लड़की ने दरवाजा खोला, तो वह क्षण-भर देहरी पर ठिठक गया, "मैं चलता हूँ।" उसने कहा। पता नहीं, यह बात उसने किससे कही थी, किन्तु जहाँ वह बैठी थी, वहाँ से कोई आवाज नहीं आयी। वहाँ उतनी ही घनी चुप्पी थी, जितनी बाहर अँधेरे में, जहाँ वह जा रहा था।